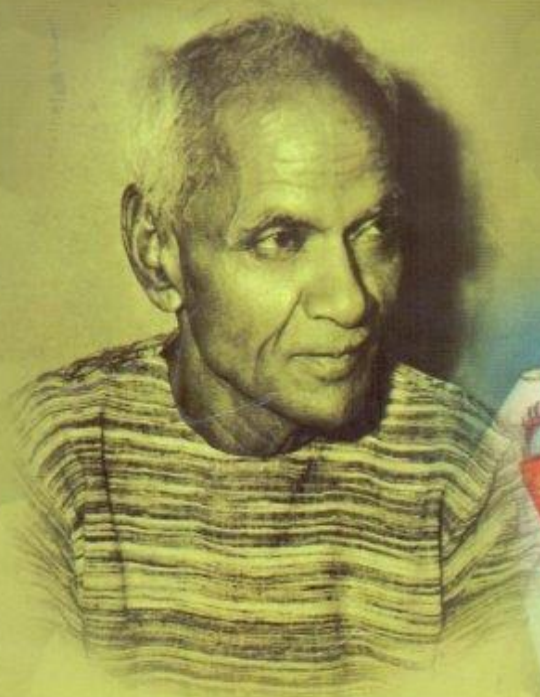


युगगीता

खण्ड-४



निवेदक

डॉ. प्रणव पण्ड्या

युगगीता

(भाग-४)



निवेदक
डॉ० प्रणव पण्ड्या
ब्रह्मवर्चस



प्रकाशक
श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)
गायत्री नगर, श्रीरामपुरम्-शांतिकुंज, हरिद्वार
(उत्तराखण्ड) पिन-249411



सन्- 2011

मूल्य- 50.00

युगगीता (भाग-4)



निवेदक

डॉ० प्रणव पण्ड्या

ब्रह्मवर्चस



प्रकाशक

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)

गायत्रीनगर-श्रीरामपुरम, शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड)



सन्- 2011



मूल्य- 50.00



गायत्रीतीर्थ-शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) 249411

Ph.No.Off.- 01334-260602, 260403, 261328 Fax-260866

www.awgp.org shantikunj@awgp.org

प्रथम खण्ड की प्रस्तावना

गीता पर न जाने कितने भाष्य लिखे जा चुके। गीता दैनन्दिन जीवन के लिए एक ऐसी पाठ्य पुस्तिका है, जिसे जितनी बार पढ़ा जाता है, कुछ नए अर्थ समझ में आते हैं। परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने जीवन भर इस गीता को हर श्वास में जिया है। जैसे-जैसे उनके समीप आने का इस अकिंचन को अवसर मिला, उसे लगा मानो योगेश्वर कृष्ण स्वयं उसके सामने विद्यमान हैं। गीता संजीवनी विद्या की मार्गदर्शिका है एवं एक महाकाव्य भी। परम पूज्य गुरुदेव के समय-समय पर कहे गए अमृत वचनों तथा उनकी लेखनी से निःसृत प्राणचेतना के साथ जब गीता के तत्त्वदर्शन को मिलाते हैं, तो एक निराले आनन्द की अनुभूति होती है—पढ़ने वाले पाठक को, सुनने वाले श्रोता को। उस आनन्द की स्थिति में पहुँचकर अनुभूति के शिखर पर रचा गया है, यह ग्रंथ 'युगगीता'।

मन्वन्तर-कल्प बदलते रहते हैं, युग आते हैं, जाते हैं, पर कुछ शिक्षण ऐसा होता है, जो युगधर्म-तत्कालीन परिस्थितियों के लिये उस अवधि में जीने वालों के लिए एक अनिवार्य कर्म बन जाता है। ऐसा ही कुछ युगगीता को पढ़ने से पाठकों को लगेगा। इसमें जो भी कुछ व्याख्या दी गयी है, वह युगानुकूल है। शास्त्रोक्त अर्थों को भी समझाने का प्रयास किया गया है एवं प्रयास यह भी किया गया है कि यदि उसी बात को हम अन्य महामानवों के नजरिये से समझने का प्रयास करें, तो कैसा ज्ञान हमें मिलता है— यह भी हम जानें। परम पूज्य गुरुदेव के चिन्तन की सर्वांगपूर्णता इसी में है कि उनकी लेखनी, अमृतवाणी, सभी हर शब्द-वाक्य में गीता के शिक्षण को ही मानो प्रतिपादित-परिभाषित करती चली जा रही है। यही वह विलक्षणता है, जो इस ग्रंथ को अन्य सामान्य भाष्यों से अलग स्थापित करता है।

युग-गीता के प्रथम खण्ड में गीता के प्रथम तीन अध्यायों की युगानुकूल व्याख्या के रूप में परिजन पढ़ रहे हैं। यह शान्तिकुञ्ज के सभागार में निवेदक द्वारा कार्यकर्ताओं के मार्गदर्शन-‘सेवाधर्म में कर्मयोग का समावेश-दैनन्दिन जीवन में अध्यात्म का शिक्षण’ प्रस्तुत करने के लिये व्याख्यानमाला के रूप में नवम्बर १९९८ से दिसम्बर के अंतिम सप्ताह तक प्रस्तुत किया गया था। उनके आडियो कैसेट अब उपलब्ध हैं। लिखते समय इसे जब “अखण्ड ज्योति” पत्रिका में धारावाहिक रूप में (मई १९९९ से) देना आरंभ किया, तो कई परिवर्तन किये गये। उद्धरणों को विस्तार से दिया गया तथा उनकी प्रामाणिकता हेतु कई ग्रन्थों का पुनः अध्ययन किया गया। “अखण्ड ज्योति” पत्रिका के विगत कई वर्षों के कई अंक पलटे गये एवं समय-समय पर उनके दिये गए निर्देशों से भरी डायरियाँ भी देखी गयीं। जो कमी बोलने में रह गयी थी या अधूरापन सा उस प्रतिपादन में रह गया था, उसे लेखन में पूरा करने का एक छोटा सा प्रयास मात्र हुआ है।

“गीता विश्वकोष” परम पूज्य गुरुदेव के स्वप्नों का ग्रंथ है। उसके लिए बहुत कुछ प्रारंभिक निर्देश भी वे दे गये हैं। वह जब बनकर तैयार होगा, तो निश्चित ही एक अनुपम ग्रंथ होगा। उसकी पूर्व भूमिका के रूप में युग गीता को खण्ड-खण्ड में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है; ताकि विश्वकोष की पृष्ठभूमि बन सके। इस विश्वकोष में दुनिया भर के संदर्भ, भाष्यों के हवाले तथा विभिन्न महामानवों के मंतव्य होंगे। वह सूर्य होगा-युगगीता तो उसकी एक किरण मात्र है। युगों-युगों से गीता गायी जाती रही है- लाखों व्यक्ति उससे मार्गदर्शन लेते रहे हैं, किंतु इस युग में जबकि बड़े स्तर पर एक व्यापक परिवर्तन सारे समाज, सारे विश्व में होने जा रहा है- इस युगगीता का विशेष महत्त्व है। कितने खण्डों में यह ग्रंथ प्रकाशित होगा, हम अभी बता नहीं सकते।

इस ग्रंथ से जन-जन को ज्ञान का प्रकाश मिले, इस युग परिवर्तन की वेला में जीवन जीने की कला का मार्गदर्शन मिले, जीवन के हर मोड़ पर जहाँ कुटिल दाँवपेंच भरे पड़े हैं—यह शिक्षण मिले कि इसे एक योगी की तरह कैसे हल करना है। इसमें लेखक के अपने ज्ञान-विद्वत्ता का कोई योगदान नहीं है। यह सब कुछ उसी गुरुसत्ता के श्रीमुख से निःसृत महाज्ञान है, जो योगेश्वर श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुई, परम पूज्य गुरुदेव के रूप में हमारे जीवन में आयी। यह वह ज्ञान है, जो उनकी लेखनी से निकल पड़ा या उद्बोधन में प्रकट हुआ। गुरुवर की अनुकम्पा न होती, अग्रजों का अनुग्रह न होता, सुधी पाठकों की प्यार भरी प्रतिक्रियाएँ न होतीं, तो शायद यह ग्रंथ आकार न ले पाता। उसी गुरुसत्ता के चरणों में श्रद्धापूरित भाव से इस गौताज्ञान की व्याख्या रूपी युगगीता का प्रथम खण्ड प्रस्तुत है।

—डॉ० प्रणव पण्ड्या

द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना

गीताजी का ज्ञान हर युग, हर काल में हर व्यक्ति के लिए मार्गदर्शन देता रहा है। गीतामृत का जो भी पान करता है, वह कालजयी बन जाता है। जीवन की किसी भी समस्या का समाधान गीता के श्लोकों में कूट-कूट कर भरा पड़ा है। आवश्यकता उसका मर्म समझने एवं जीवन में उतारने की है। धर्मग्रन्थों में, हमारे आर्ष वाङ्मय में सर्वाधिक लोकप्रिय गीताजी हुई है। गीताप्रेस-गोरखपुर ने इसके अगणित संस्करण निकाल डाले हैं। घर-घर में गीता पहुँची हैं, पर क्या इसका लाभ जन साधारण ले पाता है? सामान्य धारणा यही है कि यह बड़ी कठिन है। इसका ज्ञान तो किसी को संन्यासी बना सकता है, इसलिये सामान्य व्यक्ति को इसे नहीं पढ़ना चाहिए। साक्षात् पारस सामने होते हुए भी मना कर देना कि इसे स्पर्श करने से खतरा है, इससे बड़ी नादानी और क्या हो सकती है। गीता एक अवतारी सत्ता द्वारा सद्गुरु रूप में योग में स्थित होकर युद्ध क्षेत्र में कही गयी है। फिर यह बार बार कर्तव्यों की याद दिलाती है, तो यह किसी को अकर्मण्य कैसे बना सकती है। यह सोचा जाना चाहिए और इस ज्ञान को आत्मसात किया जाना चाहिए।

गीता और युगगीता में क्या अंतर है, यह प्रश्न किसी के भी मन में आ सकता है। गीता एक शाश्वत जीवन्त चेतना का प्रवाह है, जो हर युग में हर व्यक्ति के लिए समाधान देता है। श्रीकृष्ण रूपी आज की प्रज्ञावतार की सत्ता “**परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**” को एक सद्गुरु-चिन्तक मनीषी के रूप में हम सभी ने देखा है। एक विराट् परिवार उनसे लाभान्वित हुआ एवं अगले दिनों होने जा रहा है। सतयुग की वापसी के लिए संकल्पित पूज्यवर ने समय-समय पर जो

कहा, लिखा या जिया, वह गीता के परिप्रेक्ष्य में स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया गया है। निवेदक का प्रयास यही रहा है कि अतिमानस के प्रतीक उसके सद्गुरु, जिनने आज के युग की हर समस्या का समाधान हम सबके समक्ष रखा, गीता के परिप्रेक्ष्य में बोलते हुए दिखाई दें। स्थान-स्थान पर गीता की विस्तृत व्याख्या और भी महापुरुषों के संदर्भ में की गई है, पर मूलतः सारा चिन्तन गुरुवर को ही केन्द्र में रखकर प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि लिखते समय निवेदक के प्रेरणा स्रोत वे ही थे। मात्र लिखते समय ही क्यों? हर पल, हर श्वास में वे ही तो विद्यमान रहते हैं। अखिल विश्व गायत्री परिवार के संरक्षक-संस्थापक-एक विराट् संगठन के अभिभावक आचार्यश्री का मार्गदर्शन इस खण्ड में गीता के चौथे अध्याय के संदर्भ में प्रस्तुत हुआ है।

गीता जी का चौथा अध्याय बड़ा विलक्षण है। इसमें भगवान् अपने स्वरूप को पहली बार अर्जुन के समक्ष वाणी द्वारा प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि यह ज्ञान, जो लुप्त हो गया था, सबसे पहले उनके (भगवान् के) द्वारा सूर्य को दिया गया था, किन्तु अब वे युगों बाद द्वार में उसे दे रहे हैं। अर्जुन भ्रमित हो जाता है कि भगवान् का जन्म तो अभी का है, वे देवकी पुत्र वासुकीनन्दन के रूप में जन्मे हैं जबकि सूर्य तो अति प्राचीन है। लौकिक संबंध ही उसे समझ में आते हैं, तब भगवान् उसे जवाब देते हैं कि अर्जुन के व उनके अनेकानेक जन्म हो चुके हैं, जिन्हें वह नहीं जानता पर भगवान् जानते हैं। जब-जब भी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब भगवान् धर्म की स्थापना करने के लिए, लीलावतार के रूप में युग-युग में प्रकट-होते रहे हैं। इसी अध्याय में सुप्रसिद्ध श्लोक है-“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः भवति भारत.....संभवामि युगे-युगे” (अध्याय ४/७-८) जो हर काल में, हर युग में पीड़ित मानव जाति के लिए एक प्रत्यक्ष आश्वासन है-अवतार के प्रकटीकरण का-उनके अवतरण का। भगवान् अपने

जन्म व कर्म को दिव्य बताते हैं और इस ज्ञान की महत्ता बताते हैं कि जो इसे तत्त्व से जान लेता है, वह भगवत्ता को ही प्राप्त होता है।

चतुर्वर्ण की रचना और कर्म, अकर्म, विकर्म संबंधी चर्चा इसी अध्याय में आयी है। यही अध्याय पण्डित को परिभाषित करता है कि वही सच्चा ज्ञानी व पण्डित है, जिसके सभी कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गये हैं। कर्मयोग-ज्ञानयोग का विलक्षण सम्मिश्रण भक्तियोग के साथ इस अध्याय में है, जिसे हम “ज्ञान-कर्म संन्यासयोग” नाम से जानते हैं। विभिन्न यज्ञों की व्याख्या एवं उसमें स्वाध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ की महिमा योगेश्वर इसमें अर्जुन को समझाते हैं। कर्म बन्धन से मुक्त होना हो, तो साधक को अपने संपूर्ण कर्मों को ज्ञान में विलीन कर देना चाहिए, ऐसा कहकर श्रीकृष्ण इस अध्याय को पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। वे कहते हैं कि पापी व्यक्ति चाहे उसने कितने ही घोर पाप किए हों, ज्ञानरूपी नौका द्वारा तर सकता है। ज्ञान से ज्यादा पवित्र इस धरती पर कुछ भी नहीं है, इसे बताते हुए श्रीकृष्ण कर्मयोगी को दिव्य कर्मी बनने, श्रद्धा अपने अंदर विकसित करने और जितेन्द्रिय होने का उपदेश देते हैं। श्रद्धावान को ही ज्ञान मिलता है। संशयात्मा का तो विनाश ही होता है। अंत में श्रीकृष्ण कहते हैं—अपने विवेक को जागृत कर समस्त संशयों को नष्ट कर अपने कर्मों को परमात्मा में अर्पित कर समत्व रूपी योग में हर व्यक्ति को स्थित हो जाना चाहिए। यही इस युग की-हर युग की आवश्यकता है।

ज्ञान गीता का है, शाश्वत है एवं स्वयं भगवान् के श्रीमुख से निकला-वेदव्यास द्वारा लिपिबद्ध किया हुआ है। निवेदक ने मात्र यही प्रयास किया है कि इस ज्ञान को परम पूज्य गुरुदेव के चिन्तन के संदर्भ में आज हम कैसे दैनंदिन जीवन में लागू करें, यह व्यावहारिक मार्गदर्शन इस खण्ड की विस्तृत व्याख्या द्वारा प्राप्त हो। युगगीता का प्रथम खण्ड पहले तीन अध्याय की व्याख्या के रूप में प्रकाशित हुआ। उस समय

मन सिकोड़ने का था, पर क्रमशः अब चौथे अध्याय तक आते-आते यह पूरा खण्ड ही इसकी व्याख्या में नियोजित हो गया। यही प्रभु की इच्छा रही होगी। सद्गुरु को गुरुपूर्णिमा की पावन वेला में एवं साधक संजीवनी के सृजेता-सनातन धर्म के संरक्षक, शताधिक वर्ष तक अपनी ज्ञान-सुधा का पान कराने वाले पं० श्रीरामसुखदास जी को उनके महाप्रयाण की वेला में श्रद्धासुमनों सहित यह खण्ड समर्पित है।

—डॉ० प्रणव पण्ड्या

तृतीय खण्ड की प्रस्तावना

योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से निकली अमृतवाणी हर साधक, लोकसेवी, दिव्यकर्मी के लिए एक प्रेरणादायी संदेश है, जिसे ऋषिश्रेष्ठ वेदव्यास ने लिपिबद्ध किया है। प्रथम दो खण्ड में गीता के प्रारंभिक चार अध्याय की चर्चा हुई है। युद्धभूमि में कार्पण्यदोष से अपने कर्तव्य से विमुख होकर पलायन की बात कर रहे अपने शिष्य अर्जुन को वे आत्मा की अजरता, अमरता, युद्धभूमि में उसके कर्तव्य, अपने अवतार होने के प्रमाण तथा कर्मयोग की दैनन्दिन जीवन में आवश्यकता पर अतिमहत्त्वपूर्ण सारगर्भित उपदेश दे चुके हैं। प्रथम चार अध्याय विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग एवं ज्ञानकर्म संन्यासयोग में जो कह चुके वह युगगीता के प्रथम दो खण्डों में प्रस्तुत किया गया।

अब वे पाँचवे अध्याय द्वारा जो अति महत्त्वपूर्ण है, में “कर्म संन्यास योग” प्रकरण में सांख्ययोग और कर्मयोग का निर्णय प्रस्तुत करते हैं, सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा का ज्ञान कराते हैं। वे फिर वे ज्ञानयोग की महत्ता बताते हुए भक्ति सहित ध्यानयोग का वर्णन भी करते हैं। ध्यान योग की पूर्व भूमिका बनाकर वे अपने प्रिय शिष्य को एक प्रकार से छठे अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों द्वारा आत्मसंयम की महत्ता समझा देते हैं। यही सब कुछ परम पूज्य गुरुदेव के चिंतन के परिप्रेक्ष्य में युगगीता-३ में प्रस्तुत किया गया है। इससे हर साधक को कर्मयोग के संदर्भ में ज्ञान की एवं ज्ञान के चक्षु खुलने के बाद ध्यान की भूमिका में प्रतिष्ठित होने का मार्गदर्शन मिलेगा। जीवन में कैसे पूर्णयोगी बने-युक्तपुरुष किस तरह बनें, यह मार्गदर्शन छठे अध्याय के प्रारंभिक ९ श्लोकों में हुआ है। इस तरह प्रथम अध्याय के २९ एवं छठे अध्याय के ९ श्लोकों की युगानुकूल व्याख्या के साथ युगगीता का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण समाप्त होता है।

अर्जुन ने प्रारंभ में ही एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि कर्मसंन्यास व कर्मयोग में क्या अंतर है। उसे संशय है कि कहीं ये दोनों एक ही तो नहीं। दोनों में से यदि किसी एक को जीवन में उतारना है तो उसके जैसे कार्यकर्ता-एक क्षत्रिय राजकुमार के लिए कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। वह एक सुनिश्चित जवाब जानना चाहता है। उसके मन में

संन्यास की एक पूर्व निर्धारित पृष्ठभूमि बनी हुई है। जिसमें सभी कर्म छोड़कर गोत्र आदि-अग्नि-यज्ञोपवीत-शिखा को छोड़कर संन्यास लिया जाता है। भगवान् की दृष्टि में दोनों एक ही हैं। ज्ञानयोगियों को फल एक में मिलता है तो कर्मयोगियों को दूसरे में, पर दोनों का महत्त्व एक जैसा ही है। जो कर्म का न्यास बनादे, कर्म करते हुए भी अकर्म में प्रतिष्ठित हो, कभी जिसकी फल में लिप्सा न हो वह कर्मसंन्यासी एवं बिना किसी आसक्ति के निर्दिष्ट कर्म-दिव्यकर्म करने वाला कर्मयोगी-यह व्याख्या श्रीकृष्ण देते हैं। भगवान् कहते हैं कि इन्हें अलग-अलग नहीं मानना चाहिए। “सांख्ययोगो पृथग्बालः प्रवदन्ति न पण्डिताः” (चौथे श्लोक में कहकर वे मोहर लगा देते हैं कि दोनों एक ही हैं। हो सकता है स्वरूप पृथक्-पृथक् दिखाते देते हों पर दोनों मार्ग एक ही फल देते हैं, एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।)

भगवान् की युगगीता के इस तीसरे खण्ड में यात्रा कर्म से ध्यान की ओर है। पूर्व भूमिका ज्ञान द्वारा बनाई गयी है-आत्मसत्ता की महानता प्रतिष्ठित करके समझाई गई है। सामान्य कर्म जो हम करते हैं वे शरीर यात्रा-सुख आदि के लिए होते हैं। आदमी बंधनों में बंधता है। कर्म में जब विवेक जगता है तो सार्थकता-औचित्य का भाव जगता है। तब ज्ञान का जागरण होता है। फिर क्षुद्र स्वार्थों के लिए कर्म नहीं होते, विराट् के लिए कर्म होने लगते हैं। भगवान् कहते हैं कि अब ज्ञान व कर्म में कोई भेद नहीं रह जाता। ज्ञानयोगी कहता है कि मैं देह नहीं, चित्त नहीं, इन्द्रिय नहीं हूँ- मैं तो परब्रह्म में प्रतिष्ठित हूँ। जब चित्त ही नहीं तो प्रारब्ध कैसे बन सकेगा? भगवान् कहते हैं-न इति, न इति। ज्ञानयोगी उनके अनुसार बौनेपन में काम नहीं करता है वह तो विवेक के आधार पर प्रभु के मार्गदर्शन में तालबद्ध नाचता है। न सांख्ययोग आसक्तिवश कोई गलत कर्म करता है, न ही कर्मयोगी कोई गलत कर्म करता है क्योंकि वह भी आसक्ति के दोष से मुक्त है। ज्ञानयोगी तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन में प्रतिष्ठित हो जाता है।

रामकृष्णमरमहंस एक कथा सुनाते थे। गाँव में बायोस्कोप वाला आया। वह दिखाता था-रंग बिरंगी दुनिया वह रंग बिरंगे स्वरूप दिखाकर समझाता था-दुनिया ऐसी है, ऐसी नहीं भी है। थोड़ी देर का

खेल है। आत्मा से देखो तो रंग नहीं है। मन से-चित्त से देखोगे तो रंग हैं। ज्ञानयोगी कहता है तत्त्व से समझ लो तो मर्म कुछ और ही है। ठाकुर कहते थे कि खानदानी हार में आसक्तियाँ हो सकती हैं। सभी घरवाले उससे भिन्न-भिन्न रूपों में जुड़े हो सकते हैं पर सुनार नहीं जुड़ा होता। वह तो तत्त्व से जानता है। ज्ञानयोगी बार-बार कहता है कि रूप और आकार में कोई भेद नहीं होता। सारे भेद बेकार हैं। कर्मयोगी भी हर काम प्रभु को अर्पित करके करता है। दोनों के तरीके विराट् में घुलने के अलग-अलग हैं पर उद्देश्य एक ही है।

भगवान् इस कर्म संन्यास योग में कहते हैं कि सबका मूल है आसक्ति का त्याग, ममत्व से मुक्ति, अंतःकरण की शुद्धि के लिए निरन्तर कर्म एवं आत्मरूप परमात्मा में निवास (५/७)। ऐसा दिव्यकर्म कर्म करते हुए भी कभी उनमें लिप्त नहीं होता। कर्मसंन्यास योग की यह यात्रा स्वयं में बड़ी विलक्षण है। भगवान् कहते हैं कि देखें, सुने, स्पर्श करें, सूँघें, भोजन करें पर यह भाव रखें कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में लगी हैं, मैं कुछ नहीं कर रहा, यह है निरासक्ति का भाव। समुद्र में नदियाँ विलीन हो जाती हैं पर समुद्र को यह भाव नहीं कि वह धारण कर रहा। वह तो वास्पीकृत कर बादल बनाता रहता है जो बरसकर वापस नदियों के रूप में उसके पास जलराशि लेकर आ जाते हैं। हम जल में कमल की भाँति रहें। जैसे जल उसे स्पर्श नहीं करता ऐसे दैनंदिन जीवन से जुड़े कर्म-उनके साथ जुड़े संस्कार हमें स्पर्श नहीं करेंगे। हमारे कर्ममात्र अंतःकरण-चित्त की शुद्धि के लिए हों। अज्ञान के द्वारा प्राणी मात्र का ज्ञान आच्छादित है। अर्थात् हम अज्ञान से मोहित होकर ही अज्ञानी जन जैसे कर्म कर रहे हैं। जिनका यह अज्ञान परमात्मा के ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया वे अंदर-बाहर से ज्ञान से आप्लावित साधक कर्मयोगी उसी में अपनी निष्ठा, बुद्धि, मन सभी समर्पित कर पापरहित हो मोक्ष को प्राप्त होते हैं (५/१७)।

दिव्य कर्म करते करते हम परमात्मा में अनुरक्ति का भाव जगाते हुए, अपना सभी कुछ उन्हें अर्पित कर देते हैं-अपने ज्ञानचक्षु जगा लेते हैं तो हमें भान होता है कि जो सुख विषयी रूपों को सुख जैसा लगता है वह तो क्षणिक है, दुख का कारण ही-सदैव बंधनों में बाँधता

रहता है एवं यह तो अनित्य-क्षणभंगुर है। विवेकवान् कर्मयोगी उनमें अपना ध्यान नहीं लगता-न उनमें रमण करने की इच्छा करता है (५/२२)। भगवान् यह भी कहते हैं कि शरीर नष्ट होने से पहले काम-क्रोध से उत्पन्न वेगों को सहन करने की सामर्थ्य पैदा करलो। ऐसा ही पुरुष योगी कहलाता है-सच्चा सुख पाता है। क्रमशः योश्चर कृष्ण ध्यानयोग की, आत्मसंयम योग की पृष्ठभूमि बनाते हैं। वे कहते हैं कि ध्यान वही कर पायेगा जो इच्छा-भय से, राग-द्वेष से मुक्त हो परमात्मा की धारणा कर पायेगा। हम अपने चित्त की वृत्तियों को धारणा द्वारा घनीभूत कर अपने विचारों को चित्त में घोल लेते हैं। चित्त में विचारों का घुलना ही ध्यान है। फिर चित्त का रोम-रोम बोलने लगता है-अहं ब्रह्मास्मि। इस अनुभव की प्रगाढ़ता ही ध्यान है। धीरे-धीरे चित्तवृत्तियाँ शुद्ध होती हैं एवं ध्यान लगने लगता है। इसकी एक पूर्वक्रिया भगवान् २७-२८ श्लोक में समझाते हैं।

ज्ञानयोगी में चिन्तन की-विचारों की प्रगाढ़ता होती है, कर्मयोगी में भावों की प्रगाढ़ता होती है। कर्मयोगी इसीलिए श्रेष्ठ माना गया है। भावना के बिना न अर्पण हो पाता है, न कर्म। इस भक्ति मिश्रित कर्म से ध्यानयोग की पृष्ठभूमि बन जाती है। समाधि का लाभ दोनों वर्गों को मिलता है पर भगवान् के बड़े स्पष्ट विचार है कि योगी कौन है। युगगीता के इस तीसरे खण्ड में छठे अध्याय का प्रारंभिक भाग भी प्रस्तुत किया गया है जिसमें वे बताते हैं कि सच्चा योगी कौन है? संकल्पों को त्यागने वाला ही संन्यासी है, योगी है, ध्यानयोगी है, कर्मयोगी है। योगारूढ़ होने वाला जानता है कि मेरा आत्मा स्वयं में बड़ा बलिष्ठ है। वही मुझे प्रेरणा देगा, वही मेरा सच्चा मित्र है और इंद्रियों को जीतने में उसी की सच्ची प्रेरणा है। ज्ञानविज्ञान से तृप्त विकाररहित अंतःकरण वाला ही धारणा स्थापित कर ध्यानयोग में प्रतिष्ठित हो सकेगा, ऐसा श्रीकृष्ण का मत है। युगगीता का यह तीसरा खण्ड वसंत पर्व २००८ (विक्रम संवत् २०६४) की पावन वेला में ऐसे योगेश्वर परम पूज्य गुरुदेव को समर्पित है जिनने सारा जीवन श्रीकृष्ण की ही तरह जिया, लोकशिक्षण किया एवं विद्या विस्तार किया।

—डॉ० प्रणव पण्ड्या

प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड की प्रस्तावना

युगगीता श्रीमद्भगवद्गीता पर योगेश्वर श्रीकृष्ण के वक्तव्य, अर्जुन को दिये गए सदुपदेश एवं उसके साथ मानव जाति के लिए दिए गए मार्गदर्शन के साथ युगऋषि वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी के चिंतन का युगानुकूल प्रस्तुतीकरण है। पहले के तीन खण्डों में गीता के प्रथम पाँच अध्याय एवं छठे अध्याय के प्रथम नौ श्लोकों की विषद व्याख्या सभी आधुनिक-पुरातन उदाहरणों-साक्षियों के साथ प्रस्तुत की गई। इस चतुर्थ खण्ड में योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा “आत्मसंयम योग” नामक छठे अध्याय में की गई ध्यान योग की व्याख्या का विस्तृत विवेचन है।

ध्यान हमारी दैनंदिन आवश्यकता है। ध्यान में ही हम अपने आपको पूर्णतः जान पाते हैं। यह अन्तर्शक्तियों के जागरण की विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है। ध्यान एकाग्रता नहीं है पर ध्यान की शुरुआत एकाग्रता से होती है। हम चेतन मन का विकास अचेतन मन से कर अतिचेतन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। ध्येय के प्रति प्रेम विकसित होकर वैसी ही धारणा बने तब ध्यान लग पाता है। ध्यान से मन में शांति का साम्राज्य स्थापित होता है। योगी का चित्त ध्यान के द्वारा निर्मल हो जाता है। सारे चित्त की सफाई हो जाती है। विगत जीवन-वर्तमान जीवन के सभी मर्म धुल जाते हैं। ध्यान अपने मन में बुहारी लगाने की प्रक्रिया है। अपने आपका संपूर्ण अध्ययन करना हो तो हमें ध्यान करना चाहिए।

भगवान् ने “कर्मसंन्यास योग” नामक पाँचवे अध्याय द्वारा एक प्रकार से ध्यान योग की पूर्व भूमिका बना दी है। यही नहीं वे

प्रारंभिक आवश्यकताओं में जहाँ इस “नवद्वारे पुरे देही” (नौ दरवाजों की आध्यात्मिक राजधानी-शरीर) की यात्रा से संबंधित विभिन्न पक्षों की चर्चा करते हैं, वहाँ वे यह भी बताते हैं कि जितेन्द्रिय होने के साथ विशुद्ध अंतःकरण वाला भी होना चाहिए, ममत्व बुद्धि रहित हो मात्र अंतःकरण-चित्त की शुद्धि के लिए कर्म करते रहना चाहिए। सबसे बड़ी जरूरत है अपने विवेक चक्षु जाग्रत करना। ऐसा होता है “आदित्य” के समान ज्ञान द्वारा अपने अंदर बैठे परमात्मा को प्रकाशित करने के बाद हमारा मन ध्यान हेतु तद्रूप हो, बुद्धि तद्रूप हो तथा हम सच्चिदानंद घन परमात्मा में ही एकीभाव से स्थित हों। दुखों को लाने वाले अनित्य सुखों में लिस न हों एवं आवेगों से प्रभावित न होकर मोक्ष में प्रतिष्ठित होने की बात सोचें।

छठवाँ अध्याय (जिसके नौ श्लोकों की चर्चा पूर्व खण्ड युगगीता-३ में की गयी) में योगेश्वर श्रीकृष्ण जीवन जीने की कला की धुरी की चर्चा करते हैं पर बड़े शान्त भाव से। योगेश्वर श्रीकृष्ण बड़े शान्त मन से युद्धभूमि में खड़े होकर अपने आप पर संयम रखने की कला सिखाते हैं। भगवान् कहते हैं कि सही अर्थों में अनासक्त ही संन्यासी है-वही सही तरीके से ध्यान कर सकता है क्योंकि उसे आंतरिक संन्यास के साथ-साथ कर्म करते रहने से वासनाओं पर विजय का अभ्यास हो गया है। योगारूढ़ साधक को उच्च स्तरीय एकाग्रता चाहिए और वह मिलेगी आत्मावलम्बन द्वारा ही। अपने मन की शक्ति को पहचानकर अपने आप ही अपने उद्धार का संकल्प लेकर चलने वाला साधक हर दृष्टि से एक शुद्ध कर्मयोगी है, क्योंकि वह परमात्मा का सुपात्र बन रहा है। वह शुद्ध मन-शुद्ध अहं की शक्ति को पहचान रहा है। सारा खेल विधेयात्मक मनःस्थिति का है जो विकसित करनी पड़ती है-सत्संग के

माध्यम से, स्वाध्याय से, अच्छे विचारों में रमण करने का अभ्यास करने से। विकार रहित, जितेन्द्रिय, प्रलोभनों में न पड़ने वाला ही ध्यानयोगी बन सकता है यह श्रीकृष्ण द्वारा बतायी गयी पूर्व शर्त है। इसके साथ ही हमें हितैषी, मित्र, शत्रु, उदासी, मध्यस्थ, द्वेषी, वंधु, धर्मात्मा, पापात्मा सभी में समदृष्टि रखनी होगी। किसी भी तरह के रागद्वेष से बचना होगा तभी हमारा मन-बुद्धि-चित्त शुद्ध हो उस परा चेतना को ग्रहण करने योग्य बन पाएगा।

भगवान् इस खण्ड में छठे अध्याय के जिन श्लोकों की व्याख्या कर रहे हैं (दसवें से सैतालीसवें तक) वे किसी भी उच्चस्तरीय ही नहीं एक सामान्य साधक के लिए भी अद्भुत मार्गदर्शन लिए हुए हैं। इसमें वे एकान्त की, आसन की, ध्यान की पूर्व तैयारी हेतु शरीर की स्थिति भी बताते हैं साथ ही कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन कर, भय रहित जीवन जीने वाला साधक अपने मन को मुझ में लगाए। योग किसका सधेगा, किसका नहीं इसके लिए वे नियम बताते हैं। खानपान, निद्रा-स्वप्न, चेष्टाओं में हमारा भाग ही ठीक है। न अधिक खाएँ न बिल्कुल न खाने का व्रत लें, न बहुत सोयें न जागें। हमारी चेष्टाएँ भी यथायोग्य हों। इसके बाद जब ध्यान की बात आती है तो वे दीपक की उपमा देते हैं जो वायु रहित स्थान में निश्चल भाव से दिखाई देता है। हमारा चित्त ऐसा ही होना चाहिए। हम झंझावातों से प्रभावित न हों। ध्यान से बुद्धि को और सूक्ष्म बनायें तथा परमात्मा प्राप्ति को ही सबसे बड़ा फायदे का सौदा मानें। किसी भारी से भारी दुख से भी कभी प्रभावित न हों। इन्हें उतार-चढ़ाव मात्र मानें। तनावग्रस्त या विक्षुब्ध न हों। जब-जब विषयों की ओर मन भागे तो वापस परमात्मा में ही लाकर उसे निरुद्ध करें।

अर्जुन जानता है कि उसका चित्त चंचल है। भटकता है तो फिर समाधान क्या है। वह पूछ बैठता है। श्री भगवान् उसे अभ्यास व वैराग्य की शरण में जाने को कहते हैं। अर्जुन की यह समस्या हर कर्मयोगी-गृहस्थ-विद्यार्थी-लोकसेवी की समस्या है। मन सभी का डांवाडोल होता है। भगवान् अपना समाधान जिस कुशलता से देते हैं उससे हमें जप और ध्यान का स्वरूप समझ में आता है। कहीं मन न लगे तो कहीं दुर्गति तो न होगी यह आशंका भी वे निर्मूल कर देते हैं पर अंत में समझा देते हैं कि तप, ज्ञान व कर्म सभी का अंत है पर योगी के फल का कोई अंत नहीं। वह परम धाम को जाता है। युगगीता का यह चौथा खण्ड ध्यान योग के हर साधक के लिए एक पाठ्यपुस्तक के रूप में वसंत पर्व २००८ की वेला में अपनी आराध्य सत्ता के जन्म शताब्दी वर्ष की पूर्व वेला में उन्हीं को समर्पित है।

—डॉ प्रणव पण्ड्या

०१- एकाकी यतचित्तात्मा निराशी: अपरिग्रहः	१९
०२-ध्यान हेतु व्यावहारिक निर्देश देते एक कुशल शिक्षक	२९
०३-सबसे बड़ा अनुदान परमानंद की पराकाष्ठा वाली दिव्य शांति	३९
०४-युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु	४९
०५-कैसा होना चाहिए योगी का संयत चित्त	६०
०६-योग की चरमावस्था की ओर ले जाते योगेश्वर	६९
०७-परमात्मारूपी लाभ को प्राप्त व्यक्ति दुःख में विचलित नहीं होता	७८
०८-बार-बार मन को परमात्मा में ही निरुद्ध किया जाए	८७
०९-चित्तवृत्ति निरोध एवं परमानन्द प्राप्ति का राजमार्ग	९६
१०-ध्यान की पराकाष्ठा पर होती है सर्वोच्च अनुभूति	१०५
११-यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति	११४
१२-सुख या दुख में सर्वत्र समत्व के दर्शन करता है योगी	१२२
१३-कैसे आए यह चंचल मन काबू में ?	१३१
१४-अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते	१४१
१५-कल्याणकारी कार्य करने वाले साधक की कभी दुर्गति नहीं होती	१४९
१६-भविष्य में हमारी क्या गति होगी, हम स्वयं निर्धारित करते हैं	१५७
१७-योग पथ पर चलने वाले का सदा कल्याण ही कल्याण है	१६५
१८-तस्मात् योगी भवार्जुन्	१७४
१९-वही ध्यानयोगी है श्रेष्ठ जो प्रभु को समर्पित है	१८२

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः

ध्यान में विघ्न क्या-क्या हैं ?

श्रीकृष्ण योग की महायात्रा पर अर्जुन को ले जाना चाह रहे हैं। इसके लिए उसे जितेंद्रिय (संयमी) होने, राग-द्वेष से परे चलने, मौसम आदि से प्रभावित न हो आत्मनिष्ठ बनने, मान-अपमान से परे चलकर ज्ञान-विज्ञान से अंतःकरण को तृप्त कर निर्विकार, कूटस्थ व तृष्णामुक्त बनने तथा हर किसी के प्रति एकत्व भाव से जीने का संदेश दे रहे हैं। इतनी तैयारी किए बिना योग, जो सभी दुःखों का नाश कर देने वाला है, सध नहीं सकता। योगी के मन में किसी के भी प्रति एकांगी भाव नहीं होना चाहिए—चाहे वे पापी हों या धर्मात्मा, मित्र हों या शत्रु। ऐसी समत्व की दृष्टि रखने वाला ही योगी बन पाता है एवं अपनी मनोभूमि ऐसी बना पाता है कि वह ध्यान कर सके। इससे पूर्व वे दूसरे अध्याय में कह चुके हैं—“समत्व योग उच्यते।” अर्थात् समभाव की दृष्टि का विकास। बिना इतने गुणों को विकसित किए साधक की मनोभूमि परिपक्व नहीं बन पाती। जैसे ही योगी ने, साधक ने यह जान लिया कि हम सभी नितांत शुद्ध एक ही आत्मा हैं, उस परमात्मारूपी महासूर्य की एक रश्मि हैं। तब हमारा अंतःकरण ध्यान की स्थिति में जाने को तैयार हो जाता है। ध्यान में सबसे बड़ा विघ्न है—ईर्ष्या, द्वेष का भाव, किसी के प्रति बैरभाव। जब तक अंदर से प्रेम की भाषा नहीं बोलने लगती, तब तक भावचेतना अंदर प्रवेश नहीं हो पाती। तृप्ति, तुष्टि, शांति मनुष्य को तब ही मिल सकती है, जब वह इन सभी उद्वेगों से परे चला जाए। है यह बहुत कठिन; किंतु ध्यानस्थ होना भी तो परमात्मा से मिलन है और यह मिलन इतना आसान भी नहीं होता।

श्री अरविंद को हुए योगेश्वर के दर्शन

श्री अरविंद स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में जेल में थे। वहीं साधनारत श्री अरविंद को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। अपने इस दर्शन व अनुभूति के विषय में श्री अरविंद ने उत्तरपाड़ा के भाषण में जनसाधारण को बताया तथा बाद में अपनी पत्रिका 'वंदेमातरम्' में प्रकाशित भी किया। भगवान् वासुदेव ने उनसे कहा, "तुम्हारे मन में बार-बार एक बात आ रही है और वह तुम्हारी ध्यान-साधना में विघ्न डाल रही है। वह है, हमें जेल में बंद क्यों किया गया? राष्ट्र के लिए किए गए एक श्रेष्ठ कर्म के लिए हमें बंद क्यों कर दिया गया और वह भी डाकू-हत्यारों-चोरी करने वालों के बीच? हम तो निर्दोष थे, फिर यह दंड क्यों? क्या राष्ट्र की मुक्ति के लिए प्रयास करना इतना गलत कार्य है।" भगवान् ने उनसे फिर कहा, "हमने तुम्हें संदेश दिया था कि एकांत में जाओ, आत्मपर्यवेक्षण करो और अपने आप में स्थित हो जाओ, लेकिन तुम माने नहीं। तुमने बम फोड़े, तरह-तरह के ऐसे काम किए, जो तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं थे। हम नहीं चाहते थे कि तुम ऐसे कार्यों में लगो। यद्यपि वे थे एक शुभ कार्य के निमित्त। मैं वासुदेव कृष्ण भी भारत को स्वतंत्र कराना चाहता हूँ। यदि मैं ऐसा चाहता हूँ तो इस पुण्यभूमि भारत को आजाद कराने से कौन रोक सकता है। तुम भी नहीं रोक सकते। तुम एक उच्चस्तरीय आत्मा हो। अतः एकांत में जाओ—अपने आपे का अध्ययन करो—इसलिए तुम्हें जेल में बंद करने का क्रम बना—तुम जानना चाहते हो कि मैं कहाँ-कहाँ स्थित हूँ। तुम्हारे आस-पास बैठे सभी डकैतों-पापियों में मैं श्रीकृष्ण विराजमान हूँ।" श्री अरविंद ने दिव्यदृष्टि पाई व देखा कि सभी ओर जेल में, वार्डन में हर अपराधी में साक्षात् परमेश्वर, वासुदेव श्रीकृष्ण विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण की छवि एक काली छाया के पीछे स्पष्ट दीख रही थी। श्रीकृष्ण बोले, "चित्तवृत्तियों के अंधकार के रूप में इनके ये पाप छिपे पड़े हैं। जिस

दिन ये मिट जाएँगे, ये डकैत, पापी, अपराधी भी अपने अंदर के कृष्ण को प्रा लेंगे। तुम मानकर चलो, सभी में एक परमात्मा की सत्ता विराजमान है। धर्मात्मा व पापी, दोनों में एक भाव स्थापित करके चलो। समय आने पर तुम यहाँ से छूटोगे एवं एकांत साधना का अवसर तुम्हें मिलेगा। तब तुम्हें अनुभूति होगी कि यह जेलयात्रा कितने बड़े उद्देश्य के लिए थी।”

समबुद्धि का भाव

भगवान् के श्री अरविंद को दिए गए इस उपदेश, उनकी इस अनुभूति का हम भली भाँति अध्ययन करें। सबके पीछे समभाव रखने की बात भगवान् कह रहे हैं। कभी भी कालिमा भरा आवरण हटा, तो रत्नाकर वाल्मीकि बन सकता है, आम्रपाली साध्वी बन सकती है एवं बिल्वमंगल सूरदास बन सकता है। बस परदा हटने भर की देर है और अच्छे-खासे धर्मात्मा-पुण्यवाले के कर्म भी यदि गलत होने लगें, तो यह कालिमा भरा परदा छा सकता है। हम दोनों को समभाव से देखें, यह भगवान् का उपदेश है—**साधुषु अपि च पापेषु समबुद्धिः**। यही नहीं मित्र, हमसे बैर रखने वाले, हमारे शुभेच्छु (स्वार्थरहित भाव से सभी का हित चाहने वाले सुहृद) पक्षपातरहित भाव से हमसे जुड़े (उदासीन) दोनों ओर की भलाई चाहने वाले (मध्यस्थ) एवं द्वेषभाव रखने वाले बंधुगणों में भी हम समभाव रखें। किसी के प्रति पूर्वाग्रह न पालें। किसी की हमारे प्रति भिन्न प्रकार की भावना से हम प्रभावित न होकर उनके अंदर की ईश्वरीय सत्ता का मात्र दर्शन करें। यदि ऐसा हुआ तो हमारे अंदर का योगी सतत जाग्रत् बना रह, अपने पुरुषार्थ में लगा रह, लक्ष्य प्राप्त करके रहेगा।

श्री अरविंद को वासुदेव एक और महत्वपूर्ण संदेश दे चुके हैं—एकांत में रहने की बात। वही चर्चा अब योग की अगली कक्षा के अंतर्गत सटीक मार्गदर्शन दे रहे श्रीकृष्ण के श्रीमुख से दसवें श्लोक में

निःसृत हो रहा है। क्या विलक्षण संयोग है। ध्यान रखने की बात है कि यह सारी चर्चा होने, ध्यान करने के पूर्व की चल रही है—

रहसि स्थितः

योगी युञ्जीत सततसमात्मानं रहसि स्थितः।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥-६/१०

पहले शब्दों के अर्थ से मूल आशय समझने का प्रयास करते हैं—

योगीपुरुष (योगी) एकांत में (रहसि) निरंतर (सततम्) अवस्थित होकर (स्थितः) शरीर एवं मन को नियंत्रित कर (यतचित्तात्मा) कामना रहित (निराशीः) किसी से कुछ ग्रहण न कर (अपरिग्रहः) अपने चित्त को—अंतःकारण को (आत्मानं) आत्मा में नियोजित रखते हैं (युञ्जीत)।

अब भावार्थ हुआ, “मन और इंद्रियों सहित शरीर को अपने नियंत्रण में रखने वाला, आशा और संग्रह-परिग्रह की वृत्ति से छुटकारा पा लेने वाला योगी अकेला ही एकांत स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरंतर परमात्मा में नियोजित करता है अर्थात् उसे निरंतर इन साधनों द्वारा मन और बुद्धि की एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए।”

मनुष्य आज लौकिक जीवन के शोर-शराबों में उलझकर अपने अंतः के स्वरो को सुनना भूल गया है। वह बहिर्मुखी अधिक है। विज्ञान के चरम स्तर पर ले जाने वाले आविष्कारों ने भी उसके बहिर्मुखी बनने में मदद की है। बहिर्मुखी स्वभाव वाला चंचल चित्त जिसमें इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं है, बार-बार भागता है, उन्हीं में रमण करता है, जहाँ उसे तात्कालिक आकर्षण नजर आता है। दुनिया भर की आकांक्षाएँ, महत्वाकांक्षाएँ वह पाल लेता है। ढेर सारे साधनों का जखीरा खड़ा कर लेता है। कभी-कभी काम आने वाले, कभी भी काम

में न आने वाले ढेरों संसाधन रखकर वह सोचता है कि उसके सुख की प्राप्ति में ये सभी मदद करेंगे, पर ऐसा होता नहीं। मन व इंद्रियाँ नियंत्रित होती नहीं, तृष्णा की अग्नि सतत जलती रहती है, जितना इसमें डालो, उतनी ही बढ़ती चली जाती है, फिर योग कैसे सधे ? योगस्थ हो ध्यान कैसे लगे ? मन एकाग्र किस प्रकार हो। यदि एकांत में गए भी तो वहाँ नियमन संयम के अभाव में, परिग्रह की वृत्ति के कारण एकाग्रता सधेगी नहीं। हम एकांत में न रहकर अपनी आशाओं, इच्छाओं, मनोकामनाओं के साथ जी रहे होंगे। स्थूल दृष्टि से हम एकांत में हो सकते हैं, पर मन हमारा ढेरों साथियों के साथ वहाँ बैठा हमारी साधना में विघ्न बना हुआ है। ऐसे में एकांत साधना मजाक ही बनकर रह जाती है।

एकांत साधना का मर्म

अनेक व्यक्ति मौन साधना, एकांत साधना, गुफा में ध्यान, हिमालय में एकाकी रहने के भाव से प्रयासरत होते हैं, पर यदि उनने अपने मन और इंद्रियों सहित शरीर को नियंत्रित नहीं किया है, ढेर सारी कामनाएँ मन में लिए बैठे हैं, साधनों की कामना भी है, वे साथ में हैं भी और कोई और दे जाए तथा संग्रह करने की वृत्ति भी जिंदा है, तो वह साधना सधेगी नहीं। शान्तिकुञ्ज हरिद्वार में परम पूज्य गुरुदेव के निर्देशन में १९७३ में एकांत में प्राण-प्रत्यावर्तन साधना सत्र (५ दिवसीय) संपन्न हुए। उन सबका एक ही उद्देश्य था—एकांत में अपने आपे से साक्षात्कार एवं आत्मा को परमात्मा में स्थित करने की योग-साधना। इसके लिए प्रातः से सायं तक ढेरों साधनाएँ कराई जाती थीं। परमपूज्य गुरुदेव के चौबीस लक्ष के गायत्री जपरूपी तप एवं उनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति के संरक्षण में कइयों ने वह साध भी लिया। प्राणऊर्जा भी वे पूज्यवर से पा सके, परंतु जो मन को खाली न कर पाए, उनके वे पाँच दिन निकल गए। हाथ में आया एक सौभाग्य वापस चला गया। पिछले

दिनों विगत तीन वर्षों से शान्तिकुञ्ज हरिद्वार में पुनः एकांत के मौन अंतः ऊर्जा जागरण सत्रों की शृंखला चली है। इसमें भी वे साधनाएँ कराई जाती हैं तथा अपने आपे से साक्षात्कार का अभ्यास किया जाता है। इस एकांत साधना में वे पाँच दिन मौन रहते हैं, निर्धारित आहार लेते हैं, नियमित स्वाध्याय करते हैं एवं निर्देशों के अनुसार अपने कक्ष में एकाकी विभिन्न साधनाएँ करते रहते हैं। सभी वे लाभ नहीं ले पाते, जो किसी मन के बैरागी को, अपनी सभी इच्छाएँ गुरुचरणों में सौंपकर निष्काम भाव से साधना करने वालों को मिलते हैं। साधनाएँ सभी फल देती हैं, पर ध्यानस्थ स्थिति में जाने से पूर्व की तैयारियाँ तो हों। यदि पूर्व तैयारी नहीं है तो मन (अंतःकरण) वैसा ही रहेगा, भले ही कक्ष में बंद हो, जैसा पहले बाहर था। इसीलिए इतनी उच्चस्तरीय साधना के मनवांछित परिणाम नहीं मिल पाते। पात्रता का अर्जन सबसे पहली आवश्यकता है। क्या हैं वे शर्तें, जो प्रभु इस श्लोक में बता रहे हैं।

ध्यानस्थ होने की पूर्व शर्तें

(१) एकांत में निरंतर अकेले स्थित रहना (२) शरीर और मन को इंद्रियों सहित नियंत्रण में रखना (३) किसी भी प्रकार की कामना-आशा मन में न रखना (४) अपरिग्रह की वृत्ति विकसित कर न्यूनतम साधनों में कार्य चलाना, अपनी ब्राह्मणोचित वृत्ति को जिंदा बनाए रखना एवं (५) निरंतर मन और बुद्धि की एकाग्रता का अभ्यास करते रहना।

पाँचों शर्तें जरूरी हैं—ध्यानस्थ स्थिति में जाकर अपनी आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता में नियोजित करने के लिए, परमशांति की प्राप्ति के लिए तथा परमलक्ष्य को पाने हेतु। यह श्रीकृष्ण का, आत्मोन्नति, के पथ पर जाने वाले हर साधक के लिए खुला आमंत्रण है। बार-बार द्वितीय अध्याय के बाद वे कहते चले जा रहे हैं कि मन-बुद्धि द्वारा एकाग्रता

सर्वाधिक अनिवार्य है। “वशे हि यस्य इंद्रियाणि” से लेकर यहाँ “योगी युञ्जीत सततमात्मानं” तक वही संबोधन है। यहाँ भी वे एकांतसेवन के साथ यही शर्त जोड़ रहे हैं। यदि इंद्रियाँ नियंत्रण में नहीं हैं तो एकांत सेवन करने वाला साधक स्थूल दृष्टि से भले ही अकेला रह रहा हो, उसका मन कहीं और रमण कर रहा होगा। फिर योग सधे कैसे? इसी तरह श्रीकृष्ण अपरिग्रही होने एवं निष्काम भाव से कर्म करने की बात कहते हैं। परिग्रह एवं कामनाएँ ही समस्त दुःखों के हेतु हैं। अधिक-से-अधिक पाने की कामना, संग्रह करने की इच्छा, आध्यात्मिक अनुशासनों के विपरीत जाती है। ऐसा व्यक्ति योगी नहीं बन सकता, बनने का स्वाँग भर कर सकता है।

हर शब्द में छिपा है मर्म

यहाँ ‘अपरिग्रह’ से यह आशय भी योगेश्वर श्रीकृष्ण का है कि यदि हम योगी बनना चाह रहे हैं तो किसी से कुछ ग्रहण न कर अपने मन पर अपना नियंत्रण रखें। जब हमारे अंदर लेने की कामना जागती है तो हमारी रुचि अनावश्यक संग्रह की ओर बढ़ने लगती है। निराशीः अपरिग्रहः के माध्यम से अर्जुन को यही संकेत किया गया है कि किसी से कुछ आशा न रखो, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखो, मनोकामनाओं को मत पालो एवं साधनों को भी स्वीकार करने की वृत्ति से दूर रहो। यह अपरिग्रह मानसिक गुण ज्यादा है। यह जब स्वभाव में आ जाता है तो मन इतना प्रचंड, समर्थ एवं सशक्त हो जाता है कि न्यूनतम में निर्वाह करने में सतत संतुष्ट रहता है। यही निर्देश सतत अंदर से निर्णायक बुद्धि को जाता है कि लौकिक साधनों के संग्रह से, उन्हें औरों से स्वीकार करने से दूर रहो, अनावश्यक महत्वाकांक्षाएँ मत पालो।

यह श्लोक अपने विलक्षण अर्थ के साथ किसी योगी के लिए तो महत्त्वपूर्ण है ही, एक आदर्श कार्यकर्ता, युगनिर्माण जैसे महती प्रयोजन में जुटे देवमानव के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। भले ही युगनिर्माण जैसे कार्य में एकाकी रहना उचित न माना जाए, पर यहाँ रहसि स्थितः एकांत में स्थित होने की जो बात कही है, वह एकांत की मनःस्थिति की बात है। जग के कोलाहल में भी जो मस्ती से रहकर साधनात्मक पुरुषार्थ करता है, लोकमंगल के लिए जीता है, वह प्रकारांतर से योगी ही कहलाता है। हम भी एक आदर्श साधक बनें, योग में स्थित होकर कर्म करें, यह अपेक्षा योगेश्वर श्रीकृष्ण की है।

सांसारिक विषयों से, साधनों के संचय से मनुष्य की तृप्ति संभव नहीं है। ये क्षणिक सुख अंततः दुःख का कारण ही बनते हैं। जैसे ही हम अपने आसपास की सांसारिक परिस्थितियों से तालमेल बिठाते हैं, तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, अपनी आवश्यकताओं को नियंत्रित कर लेते हैं, हमारी प्रसन्नता का आंतरिक स्रोत फूट पड़ता है। अभिमान और कामोद्वेगों के विकारों में उलझा मनुष्य तो सतत इस संसार में भटकता ही रहता है। अपने आपे से अलगाव को दूर करने के लिए ध्यान करने की अनिवार्यता है। यह हमें अपने आप से मिलता है। आत्मसाक्षात्कार कराता है। बहिर्मुखी मन द्वारा किसी भी स्थिति में ध्यान संभव नहीं है, यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

चलें, अब व्यवहार की ओर

भगवान् सिद्धांत समझाते-समझाते अब व्यावहारिक प्रयोगों पर क्रमशः आ गए हैं। योग कैसे करें? कैसे योग में स्थित हों? कैसे ध्यान की गहराइयों में डुबकियाँ लगाएँ? यह हर साधक की जिज्ञासा है। योग एवं ध्यान क्रिया नहीं है। ऐसी 'टास्क' नहीं हैं, जिन्हें किया जाता है। ध्यान के लिए कहीं-कहीं उपयुक्त वातावरण भी मिलता है

एवं मनःस्थिति की यदि उसके साथ सही ट्यूनिंग हो जाए, दोनों में सामंजस्य बैठ जाए, तो ध्यान स्वतः लग जाता है। मनःस्थिति बनाने की प्रक्रिया की व्यावहारिक व्याख्या यहाँ दसवें श्लोक में है और फिर अगले श्लोकों में वह चर्चा है, उसमें कहाँ बैठा जाए, कैसे बैठा जाए, यह बताया गया है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ६/११

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्ध्ये ॥ ६/१२

शुद्धस्थान में (शुचौ) स्थिर भाव से (स्थिरं) जो अति ऊँचा नहीं है (न अति उच्छ्रितं) न ही अत्यधिक नीचा (न अति नीचं) कुश-तृण बिछाकर उस पर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर (चैल-अजिन-कुश उत्तरम्) अपना (आत्मनः) आसन (आसनम्) स्थापित करके (प्रतिष्ठाप्य) उस (तत्र) आसन पर (आसने) बैठकर (उपविश्य) चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए (यत चित्त-इंद्रियक्रियाः) मन को (मनः) एकाग्र-आत्मपरायण करके (एकाग्रं कृत्वा) अंतःकरण की शुद्धि के लिए (आत्मविशुद्ध्ये) जीवात्मा और परमात्मा की एकता की भावना में तन्मय होकर योगस्थ होकर (योगं) योग का अभ्यास करे (युञ्ज्यात्)।

पूरे का भावार्थ हुआ—शुद्ध पवित्र स्थान में अपना आसन लगाकर जो न बहुत ऊँचा हो, न ही नीचा हो और जिसमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र क्रमशः बिछे हों, ऐसे आसन पर बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके साधक को अंतःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करना चाहिए। ६/११, १२

स्पष्टतः ध्यान के आसन संबंधी निर्देश श्रीकृष्ण ने यहाँ दिए हैं। स्थान स्वच्छ हो, स्थिर आसन हो। न स्प्रिंग हो, न फोम के गद्दे। फर्श

की सीलन से बचने के लिए सूखी घास-तृण हो, उस पर मृगछाला और उस पर एक सूती कपड़ा। न यह ऊँचा हो, न नीचा। ऐसा हुआ तो मन एकाग्र होगा। खूब हवादार स्थान हो। ऐसे आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके (तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा) चित्त की क्रियाओं को संयत कर हृदय की, अंतःकरण की शुद्धि का अभ्यास करो। यह ध्यान की तैयारी है।



ध्यान हेतु व्यावहारिक निर्देश देते एक कुशल शिक्षक

ध्यान का पहला ककहरा

मन की एकाग्रता मनुष्य के आसन पर निर्भर है। सबसे श्रेष्ठ सुखासन है, जिसमें व्यक्ति आराम से बैठ सके, मन बार-बार उचटे नहीं एवं विचारों की शृंखला जब आमंत्रित की जाए, तब असुविधायुक्त बैठे रहने से उसको बिखरने से बचाया जाए। ध्यान की पूर्व तैयारी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। हमें याद रखना चाहिए कि पतञ्जलि के अष्टांग योग में ध्यान सातवें नंबर पर है। उसके बाद तो फिर समाधि ही है। योग का पहला ककहरा ही अनुशासन से चालू होता है। (अथ योगानुशासनम्—पतञ्जलि के योग का प्रथम सूत्र) एवं यह अनुशासन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा के राजमार्ग से गुजरकर ध्यान तक पहुँचता है। यम की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि हमारे व्यवहार-जगत् में परिवर्तन आए। हम छोटे-छोटे गुणों को अपनाकर अपना जीवन सही बना लें। नियम अंतः की अभिवृत्तियों के परावर्तन हेतु जीवन में उतारे जाते हैं। इतना हो जाने पर आसन की बारी आती है। स्थिर सुखमासनम् यह पहले भी बताया गया। मन चंचलता से निग्रह की ओर तभी चलेगा, जब आसन की सिद्धि होगी। एक आसन पर टिककर ध्यान करना आ जाए, तो चंचलता मिटती चली जाती है। जैसे मिट्टी की हँडिया को हिलाने से दही नहीं जमता, ऐसे ही शरीर यदि अस्थिर है, चंचल है, तो मन कैसे लगेगा?

शरीर व मन के बीच प्राण हैं। प्राणायाम का अर्थ है—प्राणों के आयाम में जाकर किया गया व्यायाम। प्राणायाम एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें ब्रह्मांडीय प्राण से संपर्क साधा जाता है एवं अपनी प्राणशक्ति को मजबूत बनाया जाता है। विराट् प्राण को धारण करना योग की एक अति महत्वपूर्ण क्रिया है। प्रत्याहार का अर्थ है—वह बिंदु, जहाँ मन को

टिकाया जाता है। बिना धारणा के ध्यान संभव नहीं है। हम अपने मन-प्राणों को घोल सकें, हमारी धारणा इतनी पवित्रता से भरी हो। इस धारणा की निरंतरता ही ध्यान है। प्रत्याहार से जो अंतर्जगत् की यात्रा आरंभ हुई, उसी का अगला चरण ध्यान है एवं समापन समाधि में है। उन सबके बारे में विस्तार से बाद में। अभी तो इस श्लोक में की गई चर्चा आसन के बारे में पूरी करके आगे बढ़ते हैं।

आसन पर एकाग्र मन से बैठें

भगवान् कहते हैं (बारहवें श्लोक में) कि ऐसे आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके, मन और इंद्रियों की क्रियाओं को संयत करके हर साधक को अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए (आत्मविशुद्धये) योगाभ्यास करना चाहिए। मन हमारा सतत विचारों के प्रवाहों में भटकता रहता है। ऐसे विचार-प्रवाह में कल्पनाएँ—कपोल-कल्पित विचार-शृंखलाओं आदि का बाहुल्य रहता है। इस भटकन की अवस्था में विचार-प्रवाह में बल नहीं होता और न ही गति या दिशा होती है। सामान्यतः व्यक्ति का मन अव्यवस्थित ही होता है। ऐसा मन जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं करा सकता। इसीलिए आसन पर बैठकर ध्यानयोग के साधक को सर्वप्रथम मन को सक्षम-समर्थ-प्रचंड बल से सपरिपूर्ण बनाना होगा, जिसमें पर्याप्त सुव्यवस्था और स्पष्ट ध्येय जुड़े हों। ऐसा इन्टिग्रेटेड माइंड (पूर्णतया एकाग्र मन) ही एक ऐसा माध्यम बन सकता है, जिसके द्वारा मनुष्य कुछ कहने योग्य उपलब्धियाँ हासिल कर पाए। मन को एकाग्र करने के बाद श्रीकृष्ण कहते हैं—
“चित्त व इंद्रियों की क्रियाओं को संयत करना सीखो।”
(यतचित्तेन्द्रियक्रियः) अंतःकरण-चतुष्टय के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त, अहं इस तरह चार परतें हैं। चित्त में चंचलता पैदा करने वाली भीतरी कल्पनाएँ हैं या इंद्रियों की बहिरंगीय क्रियाएँ हैं। मन के विक्षेप के यही

दो मुख्य कारण हैं। विषयासक्त मन आँधी की तरह बहने लगता है और अंतस् में अशांति पैदा कर देता है। ऐसी उथल-पुथल एकाग्रता-ध्यान की तैयारी में सबसे बड़ा विघ्न है। इसलिए मन और इंद्रियों दोनों की बाह्य प्रवृत्तियों को संयत कर और मन में एक ऐसी विचारधारा का प्रवाह हमें उत्पन्न करना चाहिए कि निरंतर एक ही श्रेष्ठ विचार-प्रवाह पर हम अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें। इतना सध जाए तो हम आसन (सुखासन) पर बैठकर प्रभु का अपने अंतःकरण में ध्यान कर सकते हैं (युज्यात् योगम्)। युज्यात् अर्थात् योगाभ्यास एवं योग अर्थात् आत्मा और परमात्मा के मिलन चित्त द्वारा चैतन्य परमानंदमयी परमात्मसत्ता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तो हमारे अंदर का ज्ञान का—विशुद्ध भावनाओं एवं श्रेष्ठ चिंतन का केंद्र जाग उठता है।

विशुद्ध अंतःकरण—एक अनिवार्यता

जब भगवान् इस बारहवें श्लोक में कह रहे हैं कि यह योगाभ्यास अंतःकरण की शुद्धि के लिए है तो उनका आशय है कि ज्यों ही भगवान् के स्वरूप में साधक का ध्यान स्थिर हुआ, त्यों ही दिमाग में भरे कूड़ा-करकट से मन शुद्ध हो जाता है। फिर मनःविक्षेप नहीं होता। विशुद्ध मन भी एक प्रकार से अपवित्र मन है। चिंता, द्वेष, ईर्ष्या की मनःस्थिति में ध्यान सधेगा कैसे? मात्र शुद्ध मन ही स्थिर और एकाग्र होता है। ध्यान चूँकि वासनाओं को जला देता है, अतः विचारों की उथल-पुथल फिर जन्म नहीं लेगी। हृदय, मन, बुद्धि शांति-निस्तब्धता की स्थिति में आ जाते हैं। जितना मन शांत होगा—उतनी ही एकाग्रता का संपादन होता है। उतना ही गहरा ध्यान होगा। अनुभूतियाँ-अंतर्दर्शन भी उसी स्तर के प्रगाढ़तम होंगे। दिव्य स्तर की आत्मानुभूतियों के लिए मार्ग बन जाता है। वास्तव में अर्जुन को उसी स्तर तक ले जाने के लिए श्रीकृष्ण का यह सारा उद्यम है।

आसनशुद्धि-आसनसिद्धि

परम पूज्य गुरुदेव 'आसन' के संबंध में 'ब्रह्मवर्चस की पंचांग्रि विद्या' के पृष्ठ १६३ पर लिखते हैं—“साधना में आसनों का दोनों प्रकार का संबंध है—प्रत्यक्ष भी, परोक्ष भी। प्रत्यक्ष इसलिए कि साधना किसी-न-किसी आसन में बैठकर ही की जाती है, अधिकांश साधनाओं में मेरुदंड सीधा रखा जाता है। इसके लिए साधक को कोई आसन ठीक इसी प्रकार आना चाहिए तथा उसका अभ्यास भी होना चाहिए। ठीक प्रकार से आसन को समझकर उसे लगा लेना आसनशुद्धि कहलाती है और जितनी देर साधना करनी है, उतनी देर बिना कष्ट के एक ही आसन में बैठे रहने के अभ्यास को आसनसिद्धि कहते हैं। आसन शुद्ध होना हर हालत में आवश्यक है। आसनसिद्धि जब तक नहीं होती, तब तक साधना के बीच में शांति से आसन बदल लेने में कोई हानि नहीं।”

पूज्यवर का भी वही आशय है, जो कि श्रीगीताजी के ग्यारहवें श्लोक में शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः के माध्यम से कहा है। जब बारहवें श्लोक में भगवान कहते हैं—उपविश्य आसने युज्यात् योगं आत्मविशुद्धये तब उनका आशय भी वही है कि साधक को आसन पर बैठकर अंतःकरण की शुद्धि हेतु अभ्यास करना चाहिए। आसनशुद्धि बिना आसनसिद्धि के संभव नहीं एवं आसनसिद्धि होने पर ही मन एकाग्र होगा—साधक का मन-अंतःकरण परमात्मा में लग पाएगा। ध्यान की यह शुरुआत है। आसन मात्र व्यायाम नहीं है या योगोपचार नहीं है। आसन ध्यान की एक अनिवार्य आवश्यकता है, यह पूज्यवर ने स्पष्ट किया है।

अब हम अगले श्लोकों की ओर चलते हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६/१३

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६/१४

पहले शब्दार्थ समझते हैं, फिर आगे बढ़ेंगे—

शरीर, मस्तक और गले को (काय-शिरः-ग्रीवं), सीधा रखकर (समं), निश्चल भाव से (अचलं), धारण करके (धारययन्), स्थिर भाव से (स्थिरः), अपने (स्वं), नासिका के अग्रभाग को (नासिका-अग्रं), देखते हुए (सम्प्रेक्ष्य), चारों ओर न देखकर (दिशः च न अवलोकयन्), प्रसन्नचित्त भाव से (प्रशान्तात्मा), बिना किसी भय के (विगतभीः), ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके (ब्रह्मचारि व्रते स्थितः), मन को (मनः), संयत रखकर (संयम्य), मुझ में चित्त लगाकर [नियोजित कर] (मच्चित्तो), मेरे में ही मन लगाकर— किसी और तरफ ध्यान न देते हुए (मत्परः), समाहित चित्त होकर बैठें (युक्त आसीत)।

भावार्थ इस प्रकार हुआ—

(साधक को उस आसन पर बैठकर) “काया, शिर और गले को समान एवं अचल स्थिति में धारण कर स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि जमाकर तथा अन्य दिशाओं की ओर न देखते हुए शांत मन के साथ, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर, मन को संयत कर, सदैव मेरा ही चिंतन करते हुए, मुझे ही अपना परम लक्ष्य मानकर ध्यान हेतु बैठना चाहिए।”

स्थिर शरीर से होता है शांत चित्त

यहाँ प्रभु चित्त की एकाग्रता संपादन हेतु शरीर और मन की स्थिति कैसी होनी चाहिए, यह बता रहे हैं। एक प्रकार से यह ध्यान का व्यावहारिक प्रशिक्षण है। इतना कुछ श्रीकृष्ण द्वारा ध्यान के विषय में कहा जा चुका है कि कभी-कभी लगता है कि साधक भ्रमित न हो

युगगीता

33

जाए। योगेश्वर अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को एक श्रेष्ठ योगी-साधक के रूप में प्रतिष्ठित होता देखना चाहते हैं एवं उसके लिए वे काव्य का सहारा लेते हैं—जब वे कहते हैं कि बैठना भी एक कला है—तब ही ध्यान सध पाएगा। मात्र आसन जान लेने से कुछ भी लाभ नहीं, जब तक यह नहीं पता कि इनके साथ मनोभाव क्या हों—अंदर की स्थिति कैसी हो?

वे कहते हैं कि सिर, गरदन और काया को अचल, स्थिर स्थिति में धारण करो और यह ध्यान रखो कि सिर सहित कोई भी अंग हिले या डुले नहीं। शरीर की स्थिरता मन को लगाने के लिए बहुत जरूरी है। पहले ही कहा जा चुका है कि जब दही जमाना हो तो मिट्टी की हँडिया को हिलाते नहीं। मन लगाना है तो शरीर पूरा स्थिर रखना होगा। परमपूज्य गुरुदेव अपने ध्यान-निर्देशों में इसीलिए बार-बार कहते हैं—स्थिर शरीर-स्थिर शरीर। शुरुआत वे यहीं से करते हैं। स्थिर शरीर के साथ वे कहते हैं—कमर सीधी, दोनों हाथ गोद में, बायाँ हाथ नीचे, दायाँ हाथ ऊपर, आँखें आधी बंद-आधी खुली। इन निर्देशों के पीछे वही मर्म छिपा पड़ा है, जो भगवान् ने तेरहवें श्लोक में समझाया है। यदि कमर (मेरुदंड) सीधी होगी, तो स्वतः शरीर स्थिर हो जाएगा। मेरुदंड ही सभी चक्र-उपत्यिकाओं की स्थली है। ब्रह्मांडीय प्राण (कॉस्मिक प्राण) सबसे पहले ध्यानस्थ स्थिति में यहीं अवतरित हो चक्रों में टक्कर मारता है। हमें श्रीकृष्ण की बात को ध्यान रखना चाहिए—समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः अर्थात् समग्र काया को सिर-गरदन शरीर को अचल धारण करो। (देखो कि कोई भी अंग हिले-डुले नहीं।) शरीर की अस्थिरता से मन चंचल हो उठता है, यदि यह सही है तो यह भी सही है कि मन की उथल-पुथल से भी प्रायः शरीर में हलचल उत्पन्न हो जाती है। स्पंदन की स्थिति में शरीर बेचैन

हो जाता है और फिर हिलने-डुलने लगता है। जब जबरदस्ती अपने आप पर नियंत्रण कर अपनी काया को अचल कर लिया जाता है, तो स्पंदित हुआ मन भी धीरे-धीरे शांत व स्थिर स्थिति में आ जाता है।

सही ध्यान मुद्रा

फिर योग के सिद्धगुरु श्रीकृष्ण कहते हैं—इस तरह अपना ध्यान केंद्रित करो, मानो आप नासिका के अग्रभाग पर देख रहे हों (संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं)। इसमें मूल आशय यह है कि हम सीधे इस तरह देखें, मानो सामने प्रभु के चरण हों व हमारी दृष्टि उन पर है। नासिका के अगले हिस्से पर दृष्टि रखने वाला सदैव सीधा, स्थिर व निश्चल भाव से बैठेगा। कभी भी उसका मन उचटेगा नहीं। किसी भी प्रारंभिक साधक के लिए इस तरह के निर्देश जरूरी हैं, ताकि उनसे शरीर को स्थिर रखने में सहायता मिल सके। एक बात और श्रीकृष्ण कहते हैं—दिशश्च न अवलोकयन् अर्थात् बिना इधर-उधर भिन्न-भिन्न दिशाओं में देखते हुए बैठें। अपना ध्यान बिखरने न दो— एक ही लक्ष्य पर केंद्रित कर दो। यही आशय है इस निर्देश का। परम पूज्य गुरुदेव को हम आज के युग का विश्वामित्र-तपोनिष्ठ सिद्ध साधक मानते हैं, जिनने कठोर तप किया व साधना का मार्ग सबके लिए सुलभ कराया। वे भी अपने निर्देश में कहते हैं—शांतचित्त, स्थिर शरीर, आधी खुली दृष्टि भ्रूमध्य (ब्रो Brow) मार्ग पर अर्थात् दोनों आँखों के बीच में जहाँ हमारा आज्ञाचक्र स्थित है। यहाँ वे ध्यानस्थ होने को कहते हैं, तो प्रकारांतर से सरल भाषा में श्रीकृष्ण द्वारा कही गई—‘नासिकाग्रं’ वाली बात का ही प्रतिपादन करते हैं। हम स्वयं करके देखें, ध्यान ज्यों ही नासिका के अगले भाग पर लगाने की हम कोशिश करेंगे, थोड़ी देर पुतलियों की कलाबाजियाँ चलेंगी, पर हम क्रमशः अपने को तनावरहित स्थिति में—शिथिलावस्था में भ्रूमध्य से नासिकाग्रं की पट्टी पर ले आएँगे। यही सही ध्यान मुद्रा है।

अपना उपदेश जारी रखते हुए श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि यदि ध्यान करने के लिए बैठे हैं तो फिर छह बातों को सदा ही एक आचार संहिता का रूप मानकर उसे भलीभाँति समझें और तदनुसार ही अपनी तैयारी करें। यदि इस चौदहवें श्लोक में वर्णित छह बिंदु ध्यान में रहेंगे, तो ध्यान क्रमशः सध जाएगा। क्या हैं ये छह बिंदु?

छह महत्त्वपूर्ण सूत्र

पहला है 'प्रशान्तात्मा' प्रसन्नचित्त होकर। दुखी-असंतुष्ट, विक्षुब्ध-ईर्ष्यालु मन के साथ नहीं। हृदय दग्ध है किन्हीं कामनाओं के कारण तो उन पर नियंत्रण कर। प्रसन्नता की मनःस्थिति में ही ध्यान के बीजांकुर फलित होंगे। दूसरा है विगत भीः अर्थात् सभी प्रकार के भयों से मुक्त होकर, निर्भय चित्त होकर ध्यान करें। भय एक प्रकार की निषेधात्मक स्थिति है, जिसमें मन की सभी प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, मन दुर्बल हो जाता है। स्वामी विवेकानंद की ओजस्वी वाणी सतत यह कहती आई है—**मा भैः मा भैः** अर्थात् भय से मुक्त होओ। भयग्रस्त होना एक प्रकार से पाप को गले लगाना है। यह आत्मा उस चिरंतन शाश्वत परमात्मसत्ता का एक घटक है, इसे किस बात का भय! भय से मुक्त होना अत्यधिक अनिवार्य है, तभी हमारे अंदर छिपा देवत्व उभरकर आएगा। तीसरा बिंदु है **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**। इसके दो अर्थ हो सकते हैं ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके—ब्रह्मचर्य में स्थित होकर—पूरी तरह पालन कर। दूसरा जो अति सूक्ष्म अर्थ है, वह है—हमारा पूरा ध्यान उस अनंत आत्मा की महिमा के चिंतन में लग जाए जो ब्रह्मरूप में स्थित है। **ब्रह्मणि स्थितः** के माध्यम से श्रीकृष्ण पहले भी यह बात कह चुके हैं। अब वे जो कह रहे हैं, उसका आशय यह भी हुआ कि जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसका मन सतत ब्रह्म में—उस परमसत्ता की ऐश्वर्य भरी सत्ता की महिमा के चिंतन में ही सतत लगा रहता है।

चौथा सूत्र है—**मनः संयम्य** अर्थात् मन को संयत् कर, भाँति-भाँति की भूतकाल की स्मृतियों—भविष्य की कल्पनाओं के जाल में न उलझकर, चिंताओं में न भटककर, स्वयं को विक्षुब्ध न कर शांत मन से ध्यान करने की तैयारी में आ जाना। पाँचवाँ सूत्र है—**मच्चित्तः** (मत् चित्तः) अर्थात् मुझ सच्चिदानंदधन परमात्मा में मन को लगाकर—मन को नियोजित कर ध्यान करें। उस योगेश्वर कृष्ण की मनमोहिनी छवि को—अपने इष्ट परमात्मा का जो भी स्वरूप हमारे मन में है, उसे अपने मन में लगाकर उस अनंत रूप की कल्पना करना। ऐसे ध्यान केंद्रित करने पर परमात्मा की चेतना ही मूल रूप में हमारे मन-मस्तिष्क में छाई रहती है। छठा सूत्र है—**मत्परः** मेरे परायण होकर अर्थात् कहीं दूसरी ओर न ध्यान देते हुए परमात्मा को ही अपना परम लक्ष्य मानना। अपना मन उस परमसत्ता की ओर से तनिक भी हटने न देना। इतना होने पर भगवान् कहते हैं—**युक्त आसीत्** अर्थात् फिर समाहित चित्त लेकर इस प्रकार ध्यान में बैठना चाहिए।

ध्यान की न्यूनतम शर्तें

इस तरह ये छह अवस्थाएँ योग के साधक को एक निर्दिष्ट आसन पर बैठने एवं नासिकाग्र भाग पर देखते हुए स्थिर बने रहने पर ध्यानावस्था में ले जाने की पूर्व तैयारी कर देती हैं। ये वे न्यूनतम छह शर्तें हैं—छह प्रारंभिक अवस्थाएँ हैं, जिनसे मन ध्यान के योग्य बन पाता है। भगवान् कृष्ण के दिए निर्देशों को हम ध्यान से देखें—प्रसन्नचित्त हो, बिना भय के, ब्रह्मरूप में स्थित हो, मन को संयत कर, परमात्मा में मन को नियोजित कर, उन्हीं को अपना परम लक्ष्य मानकर समाहित चित्त से ध्यान हेतु आसन में बैठना चाहिए। एक तरह से ये बातें भी पूर्व में अलग-अलग स्थानों पर वे द्वितीय से षष्ठ अध्याय तक बार-बार कह चुके हैं, पर यहाँ एक क्रम से छह बिंदु अपने शिष्य के

समक्ष रख देते हैं कि न्यूनतम इतना तो करना ही होगा, तभी ध्यानयोग की पहली कक्षा में प्रवेश कर सकोगे। इतना संपादित करने के बाद ही वह परमशांति मिल पाएगी, जो कि ध्यानयोग का परम लक्ष्य है एवं जिसकी नींव-आधारशिला परमात्मा में स्थित है। इसी की चर्चा श्रीकृष्ण अगले श्लोक (१५ वें) में करते हैं।



सबसे बड़ा अनुदान : परमानंद की पराकाष्ठा वाली दिव्य शांति

साधना हेतु स्वर्णिम सूत्र: सटीक मार्गदर्शन

चौदहवें श्लोक (अध्याय ६) के ये छह सूत्र किसी भी ध्यान की कक्षा में प्रवेश करने वाले साधक के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पुनः इन्हें समझ लें तो आगे के प्रतिपादनों को समझना आसान हो जाएगा।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६/१४

प्रशान्तात्मा के माध्यम से अंतःविक्षोभों पर विजय प्राप्त कर अपने मन—अंतःकरण को शांत बना लेना चाहिए। जिस अंतःकरण में जितनी गहरी शांति होगी, वहाँ शक्ति भी उतनी ही सघन होगी। श्रीगीता में अन्य स्थान पर श्रीकृष्ण कहते भी हैं—‘अशांतस्य कुतः सुखम्’ अर्थात् ‘अशांत को सुख कैसे?’ मिलेगा शांति होगी, तभी तो उस परमसत्ता से प्रेम हो पाएगा। शांति वह धुरी है, जहाँ सभी आध्यात्मिक गुण स्वतः चले आते हैं। हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि जिनके लिए हमारे मन में द्वेषभाव हैं अथवा जो हमसे ईर्ष्या करते हैं, उनके लिए भी हम शांति की प्रार्थना कर रहे हैं। शांति निस्तब्धता ही नहीं, वह घनीभूत ऊर्जा है, जो मनुष्य को रूपांतरित कर देती है।

विगतभीः का अर्थ है—हमें सभी प्रकार के डर से मुक्त होकर ध्यान करना चाहिए। जो भयभीत है, ज्ञात-अज्ञात कारणों से, वह स्वतः परमात्मचेतना के अंदर प्रवेश का मार्ग बंद कर देता है। हमें इस संसार में निर्भीक भाव से जीना सीखना चाहिए। जितना भय से हम दूर हटेंगे, उतना ही परमात्मा के निकट आएँगे। जितना प्रभु के निकट

आएँगे, हम निर्भय होते जाएँगे। भयभीत वही हो सकता है, जिसका मनोबल कमजोर हो अथवा जिसने कभी गलत कार्य किए हों एवं वे सतत अचेतन से उभरकर आते रहते हों। हम अपने को प्रभु को समर्पित कर निर्भय हो ध्यान की ऊर्जा से युक्त हो सकते हैं। **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः** की बात जब प्रभु कहते हैं, तो उनका आशय है—ब्रह्मचर्य में स्थित होकर। अपनी मन-इंद्रियों पर पूर्णतः नियंत्रण स्थापित कर विचारसंयम, समय संयम, अर्थसंयम एवं इंद्रियसंयम का पालन कर हम ब्रह्मचर्य में स्थित हो सकते हैं। शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन एवं मन में कुत्सित विचारों का पोषण—कामवासना प्रधान चिंतन से तो ब्रह्मचर्य में स्थित नहीं हुआ जा सकता। ब्रह्मरूप में विद्यमान परमात्मा में पूर्णतः विराजमान व्यक्ति कभी अपने ब्रह्मचर्य व्रत से च्युत नहीं होता।

मनः संयम्य अर्थात् मन को संयत करना—चित्त को संसार से सर्वथा हटाकर केवल परमात्मा के स्वरूप में चिंतन को नियोजित कर देना। मन कभी भूतकाल की ओर भागता है, कभी भविष्य की चिंता में उद्विग्न हो उठता है। योगाभ्यास इसी का नाम है कि हम वर्तमान में ही रहें एवं मन को परमात्मा में ही लगाने का प्रयास करें। **मच्चित्तः** कहकर श्रीकृष्ण कह रहे हैं—संयमित मन को सच्चिदानंदघन परमात्मा में ही लगाएँ, हमारा लक्ष्य हो परमात्मा का चिंतन, न कि संसार का चिंतन। यह संसार तो नष्ट होने वाला है। जिन परमात्मा में हम मन लगा रहे हैं, वह सदैव से था व आगे भी जिसका अस्तित्व रहने वाला है। हमें सांसारिक वस्तुओं से चिंतन हटाकर मन को उत्कृष्ट चिंतन में, आदर्शों के समूह परमात्मा में लगा देना चाहिए।

सतत परमात्मा का चिंतन

युक्त आसीत का भाव है—ध्यानस्थ योगी को सतत सावधान रहना चाहिए। समाहित चित्त होकर ध्यान में बैठना चाहिए। कभी भी

इस कार्य में आलस्य-प्रमाद आदि नहीं करना चाहिए। चलते-फिरते, काम करते हुए भी यह सावधानी रहे कि हमें भगवान् से तदाकार-तद्रूप होना है। उनका ही चिंतन करना है। हर श्वास में हम परमात्मा को जिएँ। चौबीस घंटे योगमय जीवन जिएँ, चाहे हम एकांत में हों अथवा लौकिक जगत् का व्यवहार निभा रहे हों। श्री अरविंद ने कहा भी है—“होल लाइफ इज योगा।” परमपूज्य गुरुदेव ने कहा है—सारा जीवन—हर श्वास अध्यात्ममय हो, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यही है ‘युक्त’ होकर ‘बैठने’ का मतलब। मत्परः अर्थात् मेरे परायण होकर—भगवत्परायण होकर बैठें। हमारा लक्ष्य-उद्देश्य-अंतिम ध्येय मात्र भगवान् हों और कुछ नहीं। हमारे सभी कर्म भी उन्हीं को समर्पित हों। भगवान् के सिवाय और कोई कामना या वासना न हो। यह समर्पण भाव हो, तो ही ध्यान लगेगा। यही बात प्रकारांतर से दसवें श्लोक में योगी युञ्जीत सतत आत्मानं रहसि स्थितः के माध्यम से प्रभु पहले भी कह चुके हैं, इसकी व्याख्या भी की जा चुकी है।

अगले श्लोक में योगेश्वर कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६/१५

शब्दार्थ—योगी पुरुष (योगी) इस प्रकार (एवं) निरंतर (सदा) अपने मन को (आत्मानं) समाहित कर—परमात्मा में लगाकर (युञ्जन्) संयत मन द्वारा, मन पर अधिकार स्थापित कर (नियतमानसः) मुझ में सम्यक् स्थिति वाली, मेरी स्वरूपता की प्राप्तिस्वरूप (मत्संस्थाम्) परम निर्वाण की नित्यशांति जो है, उसको (निर्वाणपरमाम् शांतिम्) प्राप्त हो जाते हैं (अधिगच्छति)।

भावार्थ इस प्रकार हुआ—“वश में किए हुए मन वाला योगी इस प्रकार अपनी आत्मा को निरंतर मुझ परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ मुझमें स्थित ऐसी शांति को प्राप्त होता है, जो परमानंद की पराकाष्ठारूप है तथा परम निर्वाण—मोक्ष में विलीन होती है।”

सबसे बड़ा अनुदान

ऊपर वर्णित छह सूत्रों को जीवन में उतारने वाले व्यक्ति को सबसे बड़ा अनुदान मिलता है—परमानंद की पराकाष्ठा वाली शांति। यह दिव्य शांति उसी को मिल पाती है, जो नियतमानसः अर्थात् संयत मन वाला होता है तथा युञ्जन् अर्थात् परमात्मा में चित्त लगा पाता है। इस ऊर्जायुक्त शांति में परमतत्त्व से साधक का साक्षात्कार हो जाता है और वह लोभ-मोह-अहं की तीन बेड़ियों से मुक्ति पाकर निर्वाण—मोक्षरूपी आजादी को प्राप्त होता है। शरीर हमारा वासना से दग्ध रहता है, काफी कष्ट पाता है, बुद्धि की भगदड़ हमें जीवन भर तंग करती है तथा भावनाएँ भी हमें सम्मोहित करती रहती हैं—यही है वह जीवन-संग्राम, जिसमें मनुष्य को जीवन जीने की कला की कसौटी पर परखा जाता है। मन भावनामय है, कामनामय है और इंद्रिय-निरोध के रूप में ही उसकी परीक्षा होती है। यह परीक्षा हर साधक को उत्तीर्ण करनी होती है; ताकि वह परम निर्वाण की, मोक्ष की शांति को प्राप्त हो सके।

मुक्ति एवं निर्वाण

परम पूज्य गुरुदेव मुक्ति के संबंध में कहते हैं—“जिस मुक्ति को अध्यात्म-क्षेत्र की सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया है, वह किसी लोक विशेष में जा बसने जैसी बात नहीं है। उसका सीधा-सा अर्थ है—भवबंधनों से छुटकारा। यह संकीर्ण स्वार्थपरता के चक्रव्यूह से निकलकर समष्टि—विराट् के साथ एकात्मभाव स्थापित करना है। जो इस स्तर पर पहुँचता है, वह किसी एक का या कुछेक का होकर नहीं रहता। वह अपने को सबका और सबको अपना अनुभव करता है।” निश्चित ही जिसने अपने को इस स्तर तक विकसित कर लिया, वह सतत परमात्मसत्ता में ही अधिष्ठित रहेगा एवं निर्वाणरूपी शांति को प्राप्त

होगा। इस श्लोक में छह सूत्र प्रशांतात्मा, विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते मनः संयम्य, मच्चित्तः, मत्परः को जीवन में उतारकर समाहित चित्त के साथ (युक्त आसीत) ध्यान में बैठने की फलश्रुति पाने हेतु दो चरण बताए गए हैं। पहला इस प्रकार वश में किए हुए मन वाला योगी (नियतमानसः योगी) निरंतर अपने मन को परमात्मा में लगाता है—वहाँ अपने ध्यान को ले जाकर स्थापित कर देता है। (युञ्जन्नेवं सदात्मानं)। इसकी प्रतिक्रिया दूसरे चरण में बताई गई है। वह है—वह “मेरी स्वरूपता की प्राप्तिस्वरूप परम निर्वाण की शांति” (मत्संस्थाम् शांतिंनिर्वाणपरमां) को वह प्राप्त हो जाता है। (अधिगच्छति) ये दोनों ही चरण समझने योग्य हैं।

प्राथमिकता है—मन का संयम

किसी भी प्रकार की साधना के पथ में बढ़ने वाले योगी को सबसे पहले अपने मन को अपने वश में करना होगा। मनःसंयम सबसे पहली प्रायरिटी है—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है। मनःसंयम्य तथा नियतमानसः के माध्यम से दो ही श्लोकों में क्रमशः दो बार इस बात को कहकर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस तथ्य की महत्ता प्रतिपादित कर दी है। जिसका मन औरों के वश में है—जो कह दिया, वह मान लिया, जो पढ़ लिया या देख लिया, उसी में खो गए, वह क्या तो योग कर पाएगा, क्या उसे साध पाएगा। अपना मन हमें नियंत्रित करना सीखना होगा। मन का स्वभाव चंचल है। वह भागेगा व ढलान की ओर जाना सरल होने से हमें पतनोन्मुखी प्रवाह की ओर ले चलेगा। सारे जगत् की यही रीति है। यही मन कभी हमें कामवासना प्रधान चिंतन में लिप्त कर देगा, कभी शेखचिल्लियों की तरह स्वप्नों में उलझा देगा। कभी भी यह स्थिर नहीं रह सकेगा और ध्यान में सबसे प्रमुख बाधा यही है। तो फिर क्या करें?

हमारा आदर्श ईश्वर हो

इसका उपाय प्रभु स्वयं बार-बार बताते रहे हैं—अपने मन को, अपनी आत्मा को परमेश्वर के स्वरूप में लगाएँ। आदर्शों, श्रेष्ठ वृत्तियों, सद्गुणों के समुच्चय परमात्मा के चिंतन में मन को सदैव निरत रखें। स्वाध्याय द्वारा, स्मरण द्वारा प्रभु-कार्यों में लगे रहकर, अपने अंदर उनके लिए प्रीति जगाकर हमें परमात्मसत्ता में मन को नियोजित करने की कला सीखनी चाहिए। परमात्मा साकार भी है, निराकार भी है। ब्रह्मरूप में भी है, परब्रह्म की परमचेतनारूप में भी। जो ध्यान हमें रुचता हो, वह करते हुए हम निरंतर अपनी चिंतनचेतना को परमात्मचेतना में स्नान कराते रहें। जरा भी मन भटकने न दें। ध्यान स्वयं अपने आप के साथ किए जाने वाला एक परीक्षण है और हर एक योगपिपासु को शांति की इच्छा रखने वाले को अपने भीतर ही इसे सफलतापूर्वक पूरा करना होगा। **मच्चित्तः, मत्परः** के द्वारा वे पहले भी चौदहवें श्लोक में बता चुके हैं कि ध्यानयोगी को भगवान् कृष्ण के (परमात्मा के) मनमोहन रूप में कल्पित, परम ऐश्वर्य रूप परमात्मा के अनंत तत्त्व में केन्द्रित-घनीभूत होकर उसे ही अपना परमलक्ष्य मानना चाहिए—वही हमारा एकमेव आदर्श होना चाहिए। ऐसा होने से हमारा लक्ष्य एक ही होगा—प्रभुस्वरूप की प्राप्ति, आदर्शों की प्राप्ति, उन्हें जीवन में उतारने की अभीप्सा और अधिक आकांक्षा। यह जितनी प्रबल होती जाएगी, उतनी ही प्रभुमिलन की, मन के योग के सधने की तथा उस अनिर्वचनीय शांति की संभावनाएँ बढ़ती जाएँगी, जिनकी चर्चा वे स्थान-स्थान पर कर चुके हैं।

निर्वाण तक ले जाने वाली परमशांति

निर्वाण की ओर ले जाने वाली यह परमशांति तब प्राप्त होती है, जब चित्त पूर्णतः संयत हो, कामनामुक्त हो आत्मा में स्थित हो गया

हो। मन और इंद्रियों का सुख तो अशांति की ओर ले जाता है—कभी तृप्त नहीं होता, निरंतर हमें भटकाए रहता है। हमें वास्तविक परमसुखरूपी शांति का एक बार अनुभव कर लेना है। इसमें स्थित हो जाने के बाद साधक कभी भी अपनी सत्ता के इस आध्यात्मिक सत्य से (कि वह उस अविनाशी परमात्मसत्ता का ही अंशधर है) च्युत नहीं हो सकता। मनःसंताप फिर कभी उसे विचलित नहीं करते। वह एक परमशांति में जाकर स्थित हो जाता है, जो कि निर्वाण की, बंधनमुक्ति की है तथा जिसकी नींव हमारे अपने ही अंदर है। इसीलिए योग के साधक को तब तक निरंतर प्रयास करते जाना चाहिए, जब तक वह इस मुक्ति को प्राप्त न हो जाए, उसे इस ब्रह्मनिर्वाण का आनंद सदा के लिए न मिल जाए। जीवित रहते हुए भी फिर वह अहंता-वासना-तृष्णा के प्रलोभनों से दूर प्रसन्न मन से इस संसार में मुक्त विचरण करता है—सदैव शांत बना रहकर औरों को भी शांति बाँटता है।

इसके पूर्व द्वितीय अध्याय (सांख्य योग) में प्रभु कह चुके हैं—
स शांतिम् आप्नोति न कामकामी (२/७०—वही पुरुष परमशांति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं) तथा **निर्ममो निरहंकारः स शांतिम् अधिगच्छति** (२/७१—जो समस्त कामनाओं को त्याग देता है, अहंकाररहित निस्पृह जीवन जीता है—वही शांति को प्राप्त होता है)। निष्काम कर्मयोग का शिक्षण योगेश्वर श्रीकृष्ण का सतत एक ही उद्देश्य से चल रहा है। उस शांति को प्राप्त कराने के लिए, जो कि अर्जुन ही नहीं, हर दिव्यकर्मी के लिए अनिवार्य है। बिना शांति प्राप्त किए बड़े-बड़े काम नहीं किए जा सकते। शांति प्राप्ति हेतु निष्काम कर्म समझाने के लिए प्रभु ने यज्ञीय जीवन जीने की बात कही (कर्मयोग—तृतीय अध्याय में) एवं फिर ज्ञान के महत्त्व पर लाकर उसे स्थित कर दिया—**ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिम् अचिरेणाधिगच्छति**। (ज्ञान को प्राप्त होकर जितेन्द्रिय-श्रद्धावान मनुष्य बिना किसी विलंब के तत्काल

ही भगवत्प्राप्तिरूपी शांति को, परम शांति को प्राप्त हो जाता है—अध्याय ४, श्लोक ३९)। जिस ज्ञान की चर्चा प्रभु कर रहे हैं, वह अत्यधिक पवित्र है एवं श्रद्धा से उत्पन्न हुआ है, तर्क से नहीं, बुद्धि जंजाल से नहीं। किंतु चूँकि अज्ञान से ज्ञान को ढँक रखा है—सभी अज्ञानी मनुष्य मोहित होकर नर-पशु (जंतु) जैसा व्यवहार कर रहे हैं (अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः—५/१५), वह ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। यह प्रकट तभी हो पाता है जब अज्ञान को (अविद्या को) परमात्मा के तत्त्वज्ञान द्वारा, उनकी तद्रूपता पाकर, उनकी शरण में जाकर नष्ट करने का प्रयास किया जाए।

विलक्षण है यह प्रशिक्षण

ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का विलक्षण समन्वय है श्रीकृष्ण के कर्मयोग का यह प्रशिक्षण। वे इसी कर्मयोग प्रधान अध्याय छह में ध्यानयोग का शिक्षण दे रहे हैं, पर एक-एक सीढ़ी चढ़ाते हुए उसे एक सच्चे ज्ञानी भक्त के रूप में भी विकसित कर रहे हैं। यही समग्रता गीता के योग की विशेषता है। यदि हमें अक्षय आनंद की प्राप्ति करनी है, तो हमें जानना होगा कि दुःखों के हेतु—सुखरूप लगने वाले इंद्रिय भोगों से हम दूर चलें; क्योंकि वे अनित्य हैं, क्षणिक हैं और यदि हम विवेकवान हैं, तो उनमें रमण करने के स्थान पर हम प्रभु की बात मानते हुए स्वयं को उनके चरणों में नियोजित कर देंगे (न तेषु रमते बुधः—५/२२)।

ब्रह्मनिर्वाण एवं उससे प्राप्त होने वाली शांति की चर्चा भी कर्मसंन्यासयोग नामक पंचम अध्याय के २३ से २८ क्रमांक के श्लोकों में की जा चुकी है। अब यहाँ यह चर्चा सीधे-सीधे उस अनुभव की प्राप्ति कराने हेतु ध्यानयोग के परिप्रेक्ष्य में की जा रही है। इसके लिए मन को वश में करने के उपाय बताए गए एवं सतत परमेश्वर में ही चित्त

को लगाने की बात बार-बार कही गई। इस ध्यान से अर्जित शांति ही हर योगी का इष्ट है, परमलक्ष्य है, परमानंद का पर्याय है तथा पराकाष्ठा की स्थिति में ही यह प्राप्त होती है।

शांत अंतःकरण वाले व्यक्ति अधिकाधिक होंगे, तब ही तो संसार में शांति होगी—आतंकवाद, युद्धोन्माद मिटेगा। निश्चित ही शांत मन-अंतःकरण वाले व्यक्ति अपने आस-पास भी ऊर्जा भरी शांति का संचार करते हैं। हम बाहर चारों तरफ शांत स्थान ढूँढ़ते रहते हैं, ढेरों व्यक्ति शांति पाने गायत्रीतीर्थ—शांतिकुंज आते हैं, पर विडंबना यह है कि उनके हृदय में अशांति है। वहाँ शांति स्थापित हो, तब ही तो बाहर शांति का साम्राज्य होगा। श्री अरविंद ने कहा है—“इनर रेगुलेट्स आउटर बिईंग” (हमारा अंतरंग बहिरंग को नियंत्रित करता है)। इसी बात को पूज्यवर ने कहा है—मनःस्थिति बदले तो परिस्थिति बदले।

श्री रमण महर्षि एवं श्री अरविंद

अरुणाचलम् को दक्षिण भारत (तमिलनाडु) में भगवान् कार्तिकेय का सुब्रह्मण्यम स्वामी का प्रतीक माना जाता है। रमण महर्षि सत्रह वर्ष की उम्र में वहीं आकर विराजमान हो गए। उनके वहाँ मौन साधना करने से उस शांति का साम्राज्य स्थापित हो गया, जिसकी चर्चा पाल ब्रण्टन ने ‘इन सर्च ऑफ सेक्रेड’ में की है। तिरुवन्नमलाई जिले का यह आश्रम आज महर्षि रमण के न होने पर भी उसी तरह शांति से युक्त है। कहते हैं कि इस आश्रम में कभी वन्य-पशु, हिंसक जीव, सभी एक साथ रहते थे। अंदर शांति होने के बाद असाधारण चमत्कार पैदा होता है। श्री अरविंद जिन दिनों पांडिचेरी में थे, समुद्री तूफानों से सारे भवन हिल उठते थे। एक बार ऐसा तूफान आया। श्री अरविंद कक्ष में ध्यान कर रहे थे। श्रीमाँ भागी-भागी आई कि खिड़कियाँ खुली होंगी, बंद कर दें, पर उनने देखा कि वे सोफे पर ध्यानस्थ थे। समाधि की

स्थिति में नीरोदवरण को 'सावित्री' लिखा रहे थे। बाहर तूफान था, पर श्री अरविंद के कमरे में निस्तब्ध शांति थी। एक भी तिनका उड़ नहीं रहा था। नीरोदवरण ने बाँस में कपड़ा बाँधकर खिड़की के बाहर निकाला, देखा कि कक्ष से दस-पंद्रह फीट दूरी तक तूफान अप्रभावी था। कपड़ा हिला तक नहीं। यह योगस्थ-अनिर्वचनीय शांति से युक्त श्री अरविंद की योग-साधना की फलश्रुति थी—प्रत्यक्ष चमत्कार था। हम सब भी इसी तरह की शांति से भर जाएँ, सारी जगती के ताप को शांत कर दें, ऐसी साधना हमारी हो, यही योगेश्वर की इच्छा है।



युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु

विगत कड़ी में इस अध्याय के चौदहवें श्लोक के माध्यम से ध्यान हेतु छह स्वर्णिम सूत्र दिए गये थे-आत्मा-अंतःकरण की शान्ति, भयनिवृत्ति, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति, मन का संयम, समाहित चित्त एवं भगवत्परायणता के रूप में इन छहों की व्याख्या विस्तार से की गयी थी। फिर पंद्रहवें श्लोक की विस्तार से विवेचना के माध्यम से यह बताया गया कि परम निर्वाण की शान्ति पानी है-परमानन्द की पराकाष्ठा तक पहुँचकर मोक्ष का आनन्द लेना है तो संत मन वाला तथा परमात्मा में चित्त लगाने वाला योगी बनना होगा। भवबंधनों से मुक्ति की परम पूज्य गुरुदेव की परिभाषा भी लोभ-मोह-अहं की बेड़ियों से मुक्ति के रूप में बतायी गयी थी। नियत मानस योगी (वश में किए मन वाला योगी) तथा युञ्जन्नेवं सदात्मानं (मन को सदा परमात्मा में लगाने वाला) साधक परमात्मा की स्वरूपता को प्राप्त है। परम निर्वाण की शान्ति पाता है-यह पूरे अध्याय का सार था। स्थान-स्थान पर प्रभु मन के संयम की महत्ता बताते रहे हैं। किसी बात को बार-बार कहने का मतलब यह कि इस पर सर्वप्रथम व सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। फिर वे कहते हैं कि शान्ति तो तभी मिलेगी जब मन परमात्मा में लगेगा, लौकिक साधनों में- भोग प्रधान सुखों में नहीं। रमण महर्षि व श्रीअरविन्द के उदाहरणों से परम शान्ति के स्वरूप को समझाने का प्रयास भी किया गया था। अब आगे सोलहवें श्लोक व आगे की चर्चा पर चलते हैं।

दुःखनाशक योग

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्रतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ ६/१६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६/१७

शब्दार्थ (१) हे अर्जुन (अर्जुन), किन्तु (तु), अधिक भोजन करने वाले का (अति अश्रतः), योग (योगः), सिद्ध नहीं होता (न अस्ति), और (च), न एकदम उपवास पर रहने वाले को ही योगसिद्ध हो पाता है। न च एकान्तम् अनश्नतः, अत्यधिक (अति), सोने वाले व्यक्ति का भी नहीं (स्वप्नशीलस्य च न) और फिर न ही सदा जागने वाले का योग सिद्ध हो पाता है। (जाग्रतः एव च न)। ६/१६

(२) दुखों का नाश करने वाला (दुःखहा), यह योग (योगः), तो परिमित भोजन और विहार करने वाले (युक्त आहार विहारस्य), कर्म में भी (कर्मसु) यथायोग्य प्रयत्न करने वाले (युक्त चेष्टस्य), सीमित निद्रा तथा जागरण करने वाले का ही (युक्तस्वप्नावबोधस्य) सिद्ध हो पाता है।

अब भावार्थ पर ध्यान दें—“हे अर्जुन! यह योगरूपी सफल ध्यान न तो उसके लिए संभव है जो बहुत अधिक खाता है अथवा बिल्कुल नहीं खाता अथवा यह उसके लिए भी संभव नहीं जो बहुत अधिक सोता है अथवा कम सोता है। जो आहार और विहार के कर्मों में अपनी चेष्टाओं को संतुलित रखता है तथा निद्रा जागरण में संयत होता है, उसके लिए ही यह ध्यान (योग) दुःखनाशक सिद्ध होता है। ” (६/१६, १७)

ध्यान हेतु छह स्वर्णिम सूत्र को बताने के बाद यहाँ श्रीकृष्ण सफल ध्यान के लिए कुछ बाधाओं से बचने की ओर संकेत करते हैं जो शरीर व मन से जुड़ी हैं। योग साधना इसी यंत्र से ही तो होनी है पर यदि यही अतिवाद का शिकार हो गया तो क्या करके योग सधेगा और यदि इन पर समुचित ध्यान रख लिया गया तो ऐसा ध्यान-आत्मसंयम रूपी योग दुःखनाशक सिद्ध होता है। ऐसे दुःखनाशक ध्यान के बाद ही वह शान्ति मिल पाएगी जिसकी परिसमाप्ति परम निर्वाण में-मोक्ष में होती है जिसकी चर्चा योगेश्वर पंद्रहवें श्लोक में कर चुके हैं।

अतिवाद ही बाधक

“सर्वम् अत्यन्तं गर्हितम्” अर्थात् किसी भी बात की अधिकता (अतिवाद) योग में बाधक बनती है। सभी कर्मों में सभी प्रयत्नों में- भोजन-निद्रा आदि नित्य के साधनों में कहीं भी किसी भी प्रकार का अतिवाद साधना में ध्यान के लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक है। उसे समझे बिना योगी ध्यान की दिशा में आगे बढ़ नहीं सकता इसीलिए भगवान् मोक्ष की बात कहके तुरंत “किंतु” कहकर पुनः अपनी बात सोलहवें श्लोक से आरम्भ कर उसे दो श्लोकों में समझा देते हैं। भगवान् स्पष्ट कह देते हैं कि जब तक तुम अपने यम-नियम नहीं साधते, निद्रा-आहार पर ठीक ध्यान रखकर समत्व स्थापित नहीं करते तब तक तुम्हारा सारा श्रम बेकार है, चाहे जितना भी ध्यान लगाने की कोशिश करो। जो अपने अन्नमयकोष को आहार के उचित अनुपात से तथा प्राणमय-मनोमयकोष को पवित्र अन्न एवं सही दिनचर्या-निद्रा-स्नान का सही क्रम रखते हुए साध लेता है, दुःखों का नाश करने वाला योग तो उसी का सध पाता है। आज की सारी समस्याएँ भी इन्हीं से जुड़ी हैं। अधिक खाने के परिणाम स्वरूप व्याधियाँ हैं तो “डायटिंग” से दुबला होने वालों की अपनी व्याधियाँ हैं। किसी को नींद की समस्या है कि नहीं आती, तो किसी को बहुत आती है। “स्लीप डिस् ऑर्डर्स” आज की गंभीरतम मनोव्याधियों में से एक हैं। करोड़ों टन गोलियाँ रोज “अनिद्रा” के रोगीजनों द्वारा नींद लाने के लिए ली जाती हैं। ये योगी तो नहीं हैं पर जीवन शैली अस्त व्यस्त कर इनने अपनी लय बिगाड़ ली है। फिर स्वस्थ रहें कैसे, दुःख कम कैसे हों, मन शान्त किस प्रकार हो, हृदय में शान्ति की स्थापना किस तरह हो। इसीलिए भगवान् ने यहाँ “दुःखहा” समस्त प्रकार के दुःखों-क्लेशों को-तनावों को दूर करने वाला योग किसका कैसे सध सकेगा यह स्पष्ट कर दिया है।

जीवन की लय ठीक हो

अतिवाद बड़ा दुःखदायी है, योग दुःखनाशक है। यह हम पर है कि हम किसे चुनते हैं। मगध का एक राजकुमार था श्रोण। बड़ा विलासी भोग प्रधान जीवन-हर समय मदिरा व कामिनियों से घिरा रहता था। अचानक एक क्षण आया। भोग से विरक्ति हो गयी। जीवन में वैराग्य आ गया। बुद्ध का शिष्य बन गया। साधु का-भिक्षु का जीवन जीने लगा। कठोर संन्यास की मर्यादाएँ पाल लीं। कड़ी तितिक्षा में गुजरने का उसका मन था। धूप में बैठकर ध्यान करता। शरीर सूखकर काला व काँटे जैसा हो गया। आहार कदापि नहीं, मात्र जल पर। जब तक मन पक्का था निभ गया, पर बीमार पड़ गया। जिद्दी था-हठी था पर उसे वीणा वादन बड़ा प्रिय था। बैठे-बैठे वीणा बजाता रहता था। बैठे बैठे बीमारी की स्थिति में भी वीणा के माध्यम से मन को साधने का प्रयास कर रहा था, पर मन लग ही नहीं पा रहा था। भगवान् ने पूछा- वत्स, तुम यह क्या कर रहे हो। क्यों इतना कठोर तप कर रहे हो। तो वह बोला हमें निर्विकल्प समाधि प्राप्त करनी है। इसीलिए कड़ी तितिक्षा कर रहे हैं। भगवान् बोले कि निर्विकल्प तो तुम तब पाओगे जब अहं का विसर्जन करोगे। तितिक्षा का अहं तुम्हारे अंदर बैठा फुफकार रहा है। अतिवाद का अहं तुम्हारे अंदर बैठा है। एक अतिवाद तो वह था जब मदिरा, स्त्रियाँ, भोग सभी तुम्हारे आसपास रहते थे और एक अतिवाद यह है कि तुम सूखकर काँटा हो गए हो। इस अतिवाद से निकलो। इसी बात को उदाहरण से समझाने के लिए उनने कहा कि तुम अपनी वीणा को क्यों नहीं देखते। वीणा के तार ज्यादा कस दिए जायें तो वीणा बजती नहीं, ढीले छोड़ दिये जायें तो वीणा बजती नहीं। यह शरीर भी एक जीवन वीणा है। इसे सही ढंग से कसोगे-थोड़ा ढीला छोड़ोगे, तो परमेश्वर का संगीत तुम्हारे माध्यम से बोलने लगेगा। जीवन वीणा को टूटने मत दो। श्रोण को समझ में आ गया। जैसे ही उसने

अपनी जीवन साधना की लय ठीक करली-उसका ध्यान सफल होने लगा। यह घटना कई व्यक्ति बुद्ध के जीवन से जुड़ी बताते हैं पर वस्तुतः यह श्रोण के साथ घटित हुई थी एवं उपदेष्टा थे गौतम बुद्ध।

हठयोगी देहाभिमानी

जो अतिवाद न बरते, समय पर जागे, समय पर सोये, समय पर खाए-अधिक न खाए-अत्यल्प भी न खाए, उतना ही ले जितना जरूरी है, तो ध्यान हेतु मनोभूमि बन जाती है। योगी होने के लिए हर विषय में विशेष संयम की आवश्यकता पड़ती है। समत्व ही योग है। एक ही संतुलन दो छोरों के बीच। श्रीरामकृष्ण परमहंस का मत है— “सच्चे योगी का मन सदा ईश्वर में ही रहता है, सदा ही आत्मस्थित रहता है। योगी का उद्देश्य होता है विषयों से मन को समेटकर परमात्मा में संलग्न करना। इसी कारण वह पहले निर्जन स्थान पर स्थिर आसन में बैठकर मन को एकाग्र करने का ध्यान करते हैं। कामिनी कांचन में मन रहे, तो योग नहीं होता.....राजयोग में मन के द्वारा, भक्ति और विचार के द्वारा योग होता है.....हठयोग अच्छा नहीं है। उसमें शरीर के प्रति अधिक ध्यान रखना पड़ता है। हठयोगी देहाभिमानी साधु है।” श्रीमद्भगवद्गीता-टीका स्वामी श्री अपूर्णानन्दजी पृष्ठ (७९)।

श्रीरामकृष्ण का स्पष्ट मत है कि हठयोग में जहाँ तितिक्षा को-शरीर शुद्धि हेतु अतिवाद पर, शरीर को कष्ट देने की स्थिति तक संपन्न किया जाता है, वहाँ राजयोग मन को साधकर ईश्वर से मिलन का कार्य पूरा कर देता है। “देहाभिमानी” कहकर ठाकुर रामकृष्णदेव ने स्पष्ट कर दिया कि ऐसे व्यक्ति मात्र देह तक सीमित होते हैं एवं वे योग के समग्र अर्थ को नहीं समझते। आज ऐसे व्यक्तियों की समाज में बाढ़ आ गयी है जो योग के नाम पर अतिवाद तक ले जाकर जीवन शैली के रोगों को ठीक करने का दावा करते हैं। ऐसा योग लम्बे समय तक सध नहीं पाता। जिस योग में आहार-विहार, यम-नियम पर ध्यान न देकर

क्रियाओं का ही महत्त्व है वह टिकाऊ नहीं है तथा अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं करता। अतः योग यदि साधना है तो उसे शरीर से आरंभ कर-मन व आत्मा तक ले जाया जाना चाहिए। हमारे सभी कर्मों व चेष्टाओं में समभाव हो, यह श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है।

ध्यान एक अंतः परीक्षण

ध्यान अपने आपके साथ किया जाने वाला एक प्रकार से वैज्ञानिक परीक्षण है, जिसकी सफलता इस पर निर्भर करती है कि उसने अपने आपको अतिवाद से बचाया है या नहीं। जो अधिक खाएगा उसका मन ध्यान में कहाँ से लगेगा। जो अधिक खाएगा उसे निरंतर प्रमाद से- आलस्य से जूझना होगा। यह ध्यान के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। शरीर भी स्वस्थ नहीं रहेगा, अपच-कब्ज और अन्य तकलीफें ही उसे अधिक सताती रहेंगी। इसी प्रकार जो अत्यल्प खाएगा, उसका मन सदैव भोजन में ही लगेगा। भूख उसे मानसिक कष्ट देती रहेगी। भोजन उसके स्वाद की कल्पना उसके मन को सतत चंचल बनाए रखेगी। अधिकांश उपवास करने वाले (अतिवाद की सीमा तक) इसी कारण ध्यान नहीं लगा पाते। एक अतिवाद यह भी होता है कि पहले उपवास कर लिया-एकादशी का-पूर्णिमा का-सोमवार का-गुरुवार का; कुछ भी नहीं लिया और फिर ज्यों ही उपवास टूटा-ढेर सारा फलाहारी भोजन ले लिया। फिर मात्रा पर ध्यान नहीं जाता। फलाहारी के नाम पर व्यंजन खाते और “कोलेस्टेरॉल” बढ़ाने वाला भोजन करते ढेरों को देखा जा सकता है। बाजार में भी ढेरों व्यंजन उपलब्ध हैं तथा भारतीय नारी इस क्षेत्र में नयी शोधें करने में माहिर है। जितने प्रकार का व जितनी मात्रा का फलाहारी भोजन उपवास के बाद किया जाता है, वह औसत दिनों से ढाई गुना अधिक गरिष्ठ पाया जाता है। चरक महर्षि ने इसीलिए कहा है-हिताशी, मिताशी, कालभोजी जितेन्द्रियः- हितकारी भोजन, निश्चित मात्रा में नियत समय पर करने

वाला संयमी व्यक्ति ही स्वस्थ सफल योगी बन पाता है। परम पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि व्यक्ति को हितकारी आहार से आधा पेट भरने के लिए खाना चाहिए, एक चौथाई पेट पानी के लिए, एक चौथाई हवा के लिए खाली रहना चाहिए ताकि भोजन का पाचन ठीक से होता रहे। “क्या खायें? क्यों खायें? कैसे खायें?” पुस्तक में उनसे बड़ा विस्तार से इस विषय में लिखा है। कहा भी गया है—“थोड़ा थोड़ा खाओ—न मरो न मुटाओ।” न मरने की दिशा में आगे कदम रखोगे, न मोटे ही होगे। मोटापा ही तो आज समस्याओं का केन्द्र बिन्दु है।

आज भोजन स्वाद के लिए किया जाता है इसलिए अधिक हो जाता है। कब सीमारेखा पार कर गए, पता ही नहीं चलता। विगत दो दशकों में सारी धरित्री पर बेडौल शरीर वाले—मोटे शरीर वाले बीमार किशोरों—युवाओं की संख्या तेजी से बढ़ी है। हृदयरोग जल्दी जल्दी होने लगे हैं। आहार से जुड़ी है ढेर सारी व्याधियाँ। “फास्ट फूड” के प्रचलन ने भी जो पश्चिम से आया है इसी विकृति को बढ़ाया है। सबसे बड़ी बात यह है कि “अन्नं वै मनः” पर किसी का ध्यान नहीं है और ध्यान करने चल पड़ते हैं। जब अन्न मन बनाता है तो उससे पकाया भोजन खाने वाले का मन भी उसी अनुसार होगा। अन्न की शुचिता, उसे किस स्रोत से पाया गया है, किसने पकाया है—यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। यदि इन सब बातों पर ध्यान दिया जाता रहे तो ध्यान साधना का सबसे बड़ा विघ्न आलस्य—प्रमाद—मन न लगने की शिकायत से छुटकारा मिल जाएगा।

समत्व ही योग है

“संयम का अर्थ है संतुलन। दोनों अतियों की ओर न सरकना। ठीक मध्य में रहना। समत्व जिसकी बात बार—बार योगेश्वर ने गीता में कही है—वह यही है कि हम किसी भी प्रकार के अतिवाद से बचें! अधिक भूखे रहने वाले—ढेर सारे उपवास करने वाले तो स्वयं को क्लेश

पहुँचाते हैं। तितिक्षा की यह अति भी श्रीकृष्ण रूपी योग शिक्षक को स्वीकार्य नहीं है। वे आगे सत्रहवें अध्याय (श्रद्धात्रय विभाग योग) में बड़ा स्पष्ट विचार व्यक्त करते हैं—

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्त शरीरस्थं तान्विद्भ्यासुरनिश्चयान् ॥ १७/६

अर्थात्— “शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं (शास्त्र से विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणों द्वारा शरीर को सुखाना) उन अज्ञानियों को तू असुर स्वभाव वाला जानना।”

यहाँ तप-तितिक्षा की अवमानना नहीं की जा रही, वरन् यह कहा जा रहा है कि हम अतिवाद से बचें। शास्त्रोक्त परिधि में चलें। सप्ताह में एक बार पेट को आराम देने के लिये उपवास रखें अथवा अस्वाद व्रत रखें। प्रवाही द्रव्य (जल, दुग्ध, छाछ, फलों के रस शाक-सब्जी के रस) आदि लेते रहें। मूल तथ्य यह है कि हम अपने शरीर को आहार की अति अत्यल्पतारूपी प्रक्रिया से दूर रख शरीर-मन-आत्मा के साथ न्याय करें।

निद्रा कैसी हो ?

योग साधना की सफलता इस पर भी निर्भर करती है कि हम कितनी निद्रा लेते हैं। एक सामान्य व्यक्ति के लिए आठ घण्टे की नींद जरूरी है। एक साधक स्तर के व्यक्ति जिसका आहार नियमित, नियत तथा सात्त्विक है छह घण्टे की प्रगाढ़ निद्रा ले ले, तो काफी है। योगनिद्रा के अभ्यस्त साधक की चार घण्टे की नींद भी अन्य लौकिक व्यक्तियों की आठ घण्टे की नींद के बराबर मानी जाती है। अभ्यास द्वारा यह सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। पर यह उच्चस्तरीय गुरुकृपा प्राप्त साधक के लिए ही संभव है। किसी को भी इस अतिवाद पर बिना मार्गदर्शन के नहीं चलना चाहिए। अर्जुन को तो योगेश्वर श्रीकृष्ण की

कृपा प्राप्त थी। उसने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली थी, अतः वह “गुडाकेश” कहलाया। परम पूज्य गुरुदेव को भी निद्रा पर विजय प्राप्त थी। वे सोते हुए भी योगी की तरह जागते थे। लौकिक दृष्टि से वे आठ बजे सोकर १२-१२.३० पर उठ जाते थे, पर यह उनके वश में था। प्रातः का अपना साधनादि क्रम ४ घण्टे में समाप्त कर वे चार घण्टे नित्य लिखते थे। दिन में मुश्किल से आधा घण्टा मात्र बिस्तर पर लेटकर उन्हें शिथिलीकरण करते देखा गया। ८० वर्ष की आयु पहुँचते तक महाप्रयाण के पूर्व तक उनकी यही दिनचर्या रही।

जो व्यक्ति निर्धारित निद्रा से कम सोता है या अधिक सोता है—उसे आलस्य, प्रमाद का शिकार होना पड़ता है जो साधना में—जीवन में सफलता के मार्ग पर बढ़ने में बाधक है। जो योगी नहीं है, रात्रि देर से सोकर सुबह जल्दी काम पर चला जाता है, वह दिन में ऊबासी-जम्भाई लेता देखा जाता है। शरीर में आलस्य एवं मन में प्रमाद एक प्रकार से घुन की तरह, विषाणु की तरह प्रवेश कर जाते हैं। ये सारे शरीर ही नहीं मन को भी खोखला कर देते हैं। नींद की भरपाई दिन में कर २ से ३ घण्टे सोने वाले तो अत्यधिक अतिवादी हैं। वे श्रीकृष्ण के निर्देशों की एक प्रकार से अवज्ञा करते हैं। उन्हें जीवन शैली के रोग तो होते ही हैं, उनका साधना में मन भी नहीं लगता। दिन भर शरीर टूटा सा रहता है एवं मनोयोग में कमी आ जाती है। किसी भी काम में मन नहीं लगता। ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक तो एक तरफ, भौतिक जगत् में भी कहीं किसी लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते। असफल जीवन बिता किसी तरह नरपशु का जीवन काटकर यह यात्रा पूरी कर लेते हैं।

निद्रा का विज्ञान

निद्रा भी स्वप्नवाली तथा बिना स्वप्नवाली होती है। स्वप्न कभी कभी सार्थक होते हैं, कभी निरर्थक। दिव्य स्वप्न आएँ उसके लिए सही आहार, स्वाध्याय एवं सही दिनचर्या जरूरी है। सामान्यतया निरर्थक

स्वप्न ही आते रहते हैं। हम चाहें तो दिव्य स्वप्नों को आमंत्रित करने की कला ध्यान द्वारा सीख सकते हैं। तीव्र पुतलियों की गतिवाली नींद (रैपिड आई मूवमेण्ट स्लीप-आर.ई.एम.) कही जाती है तथा बिना इस तरह की नींद (नॉन रैपिड आई मूवमेण्ट स्लीप-एन.आर.ई.एम.) कही जाती है। नींद आने के तुरंत बाद पैंतालीस मिनट से एक घण्टे के अंदर व्यक्ति NREM नींद की चार सीढ़ियों से गुजर जाता है। दूसरे घण्टे से REM नींद चालू होती है। दोनों ही प्रकार की नींदों का चक्र १० से ११ मिनट के अन्तराल पर बदलता रहता है। एक वयस्क युवा में लगभग पच्चीस प्रतिशत अनुपात REM का एवं साठ से पैंसठ प्रतिशत अनुपात NREM का होता है। बच्चे व बूढ़े में REM का अनुपात अधिक होता है। अनिद्रा की बीमारी में यह चक्र गड़बड़ा जाता है एवं रातभर करवटें बदलते बीतती है। दिन भर प्रमाद छाया रहता है। इसी तरह नींद से जुड़ी जितनी बीमारियाँ हैं, विशेषज्ञ बताते हैं कि वे हमारी जीवनशैली की अस्तव्यस्तता के कारण हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जिस बात पर ध्यान केन्द्रित किया है वह है निद्रा का अतिवाद। अत्यधिक जागना (पढ़ाई के लिए, काम के कारण अथवा साधना का हठ) या फिर अधिक सोना रात्रि में भी एवं दिन में भी। ऐसे व्यक्ति का योग दुःखनाशक के स्थान पर दुःखकारक बन जाता है। वे गीता के अठारहवें अध्याय के ३९ वें श्लोक में कहते भी हैं कि निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामसी सुख है एवं यह भोगकाल में भी तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला होता है। भले ही आरंभ में विषतुल्य लगे परंतु परिणाम में अमृत तुल्य हो ऐसा परमात्म विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले सात्विक सुख की ओर ही साधक को जाना चाहिए (संदर्भ-तीन प्रकार के सुख-श्लोक ३६ से ३९, अध्याय १८)।

योग करता है दुःखों का नाश

भगवान् की स्पष्ट मान्यता है कि समस्त लौकिक कष्ट, दुःखों का क्षय हो सकता है यदि व्यक्ति योग को जीवन में समग्र रूप में उतारे-यम, नियम के सभी सूत्रों का पालन करे, आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा की सीढ़ियों से गुजरकर ध्यान तक पहुँचे। यथायोग्य आहार ले, जीवनचर्या व्यवस्थित रखे तथा सभी कर्म परमात्मा के प्रति समर्पण भाव से संयत होकर एक कर्मयोगी की तरह किए जायें। यथायोग्य सोने व जागने का नियम बनाया जाय। “जल्दी सोना-जल्दी उठना” यह एक योगी की दिनचर्या का महत्वपूर्ण बिंदु होता है। शाम को हल्का भोजन जल्दी लेकर जल्दी सो जायें। प्रातः जल्दी उठें एवं फिर नित्यकर्म से निवृत्त होकर ध्यान, स्वाध्याय, लेखन आदि आध्यात्मिक उपचार में लग जाय। ब्राह्ममुहूर्त में ध्यान शीघ्र लगता है व फलदायी होता है। जल्दी उठने वाला परमात्म सत्ता में शीघ्र स्थित होने की पात्रता विकसित कर लेता है। इतना स्पष्ट मार्गदर्शन है, फिर हम क्यों गड़बड़ा जाते हैं।



कैसा होना चाहिए योगी का संयत चित्त

विनियतं चित्तम्

अठारहवाँ श्लोक कहता है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ६/१८

अर्थात्—जब (यदा), विशेष रूप से संयत किया हुआ (विनियतं), चित्त (चित्तम्), आत्मा में ही (आत्मनि एव), स्थित रहता है (अवतिष्ठते), तब (तदा), सब प्रकार के काम्य विषयों—आकांक्षाओं से (सर्वकामेभ्यः), कामनारहित (निःस्पृहः), व्यक्ति योग में स्थित है (युक्तः), ऐसा कहा जाता है (इति उच्यते) ॥

यह शब्दार्थ हुआ, अब भावार्थ देखते हैं—

“अत्यंत वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भली भाँति स्थित हो जाता है, उस काल में संपूर्ण भोगों—कामनाओं से स्पृहारहित (पूर्णतः निस्पृह) पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है”।

भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य कब योग में स्थित है, यह जानना हो तो यह देखना होगा कि वशीभूत चित्त परमात्मा में लगा हुआ है या नहीं एवं उसके मन में भोगों के प्रति निर्लिप्तता का भाव पैदा हुआ या नहीं । जब—जब, जिन—जिन क्षणों में, जिस—जिस अवधि में मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त होता है, वह ‘युक्तः’—सही अर्थों में एक योगी—एक दिव्यकर्मी कहा जाता है । आहार—विहार की अति से बचने की बात कहने के तुरंत बाद वे ध्यानयोग की अति महत्वपूर्ण शर्तें बताते हैं—“विनियतं चित्तं”—विशेष रूप से संयत किया हुआ चित्त—सारी वृत्तियों को सिकोड़कर एकाग्र किया गया मन तथा फिर कहते हैं—“आत्मनि अवतिष्ठते” अर्थात् ऐसा चित्त फिर परमात्मा में ही स्थित हो, इधर—उधर नहीं तथा इसके बाद कहते हैं—“निस्पृहः

सर्वकामेभ्यः”-समस्त कामनाओं की, भोग की कल्पना या इच्छा-आकांक्षा से मुक्त एवं पूर्णतः निस्पृह (कोई भी लगाव न रखने वाला, किसी भी प्रकार की रुचि न रखने वाला) व्यक्ति ही सही मायने में योगी कहलाता है ।

युक्तः - योगी कौन ?

यह वस्तुतः एक प्रकार से व्यावहारिक निर्देश है, जो किसी भी साधक-ध्यानयोगी-दिव्यकर्म के लिए जानना जरूरी है । एक सच्चा ध्यान करने वाला तभी ध्यान में स्थित कहा जा सकता है, जब उसका मन कामनाओं के द्वारा विक्षुब्ध हो, इधर-उधर न भटक रहा हो । जब तक कामनाएँ हैं, विषयभोग की इच्छाएँ हैं, तब तक चित्त लगने वाला है नहीं । जैसे ही चित्त संयत हुआ, व्यक्ति अंतर्मुखी हो जाता है, उसे स्पृहा नहीं परेशान करती, वह अंदर के शुद्ध चैतन्य आत्मतत्त्व में पूर्णतः लीन हो जाता है । वहीं तो चिरंतन शांति का निवास है । ऐसा व्यक्ति ही भगवान् के अनुसार भली भाँति ध्यान में युक्त माना जा सकता है ।

भगवान् यह भी कह रहे हैं कि ध्यान यदि नियमित किया जाए तो चित्त संस्कारशून्य होने लगेगा । उच्चस्तरीय चेतना प्रतिबिंबित होने लगेगी । बाह्य जगत् में सभी कामनाओं-तामसिकताओं के प्रति अरुचि पैदा होगी व चित्त निर्मल बनेगा । ज्यों-ज्यों ध्यान गहरा होता जाता है, चित्त निर्मल होता जाता है । इसीलिए नित्य-नियमित ध्यान करते रहना चाहिए । जहाँ ध्यान चित्त संयत करने के लिए एक उपचार है, वहाँ ध्यान लगाने की एक आवश्यकता संयत चित्त है, यह तथ्य वे बार-बार समझा रहे हैं । प्राणों का रूपांतरण हो तो हमारी वासना व कामना सभी समाप्त हो जाएँ । हम प्रयास करें कि हमारी वासना प्रार्थना में बदल जाए ।

परमात्मा में स्थित हो करें ध्यान

प्रार्थना भगवान् को देने की प्रक्रिया है । प्रार्थना हृदय की गुहा में बैठकर होती है । हम हमारा सर्वस्व उसमें उड़ेल देते हैं । हमारी

संपूर्ण क्रियाशीलता भगवत्सत्ता के चरणों में अर्पित हो जाती है; जबकि वासना की पूर्ति बिना दूसरे व्यक्ति के नहीं हो सकती है । इसलिए यदि हम परमात्मा में स्थित होकर ध्यान करते हैं तो स्वतः हमारा चित्त संयत हो जाता है-वासनाएँ-कामनाएँ रूपांतरित हो जाती हैं-हमारे मुख से फिर प्रार्थना ही निकलती है-मन-बुद्धि भगवान् को ही अर्पित हो जाते हैं-चेतना ऊर्ध्वगामी होने लगती है; क्योंकि गिराने वाले तत्त्व अब रूपांतरित हो गए हैं । इसके लिए निस्पृहता का गुण होना साधक के लिए अनिवार्य हैं । यदि वह हर कार्यों में अपनी हर चेष्टा में निस्पृह है, तो फिर आसक्ति उससे दूर रहेगी, वह निर्लिप्त भाव से यज्ञीय जीवन जिएगा एवं जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है कि फिर वह परमात्मा में ही स्थित बना रह सही अर्थों में योगी कहलाएगा । श्रीकृष्ण का स्पष्ट संदेश है कि जिस भाग्यवान् पुरुष से यह आत्मसंयम वाला कर्मयोग सध जाए, वह मोक्ष के सिंहासन पर सुशोभित हो जाता है ।

परमपूज्य गुरुदेव इसी प्रसंग पर लिखते हैं-“जिस युग में, जिस समाज के जिस वातावरण में हम रह रहे हैं, उसमें अवांछनीय प्रचलनों की कमी नहीं । उनका आकर्षण मन को अपनी ओर खींचता-लुभाता है । पानी स्वभावतः नीचे गिरता है । तत्काल लाभ की बात सहज ही मन को आकर्षित करती है और दबी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ उभरकर उस मार्ग पर घसीट ले जाती हैं, जो मनुष्य जैसे विवेकी प्राणी के लिए अशोभनीय है । योग-साधना मूलतः इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रचंड संघर्ष खड़ा कर देती है । जिस महाभारत में श्रीकृष्ण और अर्जुन ने सम्मिलित भूमिका निभाई थी, वह आत्मपरिष्कार में योग-साधना के साथ पूरी तरह से संबंधित है । कुसंस्कार कौरव दल से कम नहीं। वे निकृष्ट योनियों के साथ चले आ रहे हैं और वातावरण में घुसी अवांछनीयताओं से उद्दीप्त हो भड़कते रहते हैं । जिस तरह से कौरवों ने पांडवों की सारी संपदा हथिया ली थी एवं वापस लेने के लिए पांडवों को युद्ध करना पड़ा, ठीक इसी तरह से आत्मिक गरिमा पर असुरता आच्छादित हो रही है । उसको इस चंगुल से छुड़ाने के लिए

विरोध-प्रतिरोध का महाभारत खड़ा करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रह गया है । योगाभ्यास में इसी 'विरोध'-संघर्ष का उल्लेख है । इसमें आत्मा-परमात्मा, सत्कर्म व सद्ज्ञान का समन्वय करने पर विजय सर्वथा निश्चित हो जाती है ।" ('साधना पद्धतियों का ज्ञान-विज्ञान' वाङ्मय खंड ४, पृष्ठ १.१२३)

एक अति सुंदर उपमा

इस प्रकार जब भली भाँति संयत चित्त हो सब प्रकार की कामनाओं से मुक्त होकर आत्मा में ही विश्राम पाता है, तब ऐसा माना जा सकता है कि योगी ने ध्यान में दृढ़ स्थिति प्राप्त कर ली है । यह एक प्रकार से ध्यानयोग में प्रगति की समीक्षा है, जो श्रीकृष्ण ने अठारहवें श्लोक में की है; किंतु यह स्पष्ट होना जरूरी है कि मन व चित्त को संयत कर ध्यान को आत्मसत्ता के साथ कैसे पूर्णतः लीन करना है । इसके लिए भगवान् एक बहुत ही सुंदर उदाहरण देकर अगले श्लोक में अर्जुन को बताते हैं-

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ -६/१९

शब्दार्थ - जिस प्रकार (यथा), दीपक (दीपः), वायुरहित स्थान में (निवातस्थः), जरा भी कंपित नहीं होता (न इंगते), आत्मा का (आत्मनः), निरोध-योग (योगम्), युक्त होने वाले (युञ्जतः), संयतचित्त योगी की (यतचित्तस्य योगिनः), वही (सा), उपमा (तुलना) उसी रूप में जानना (स्मृता) ।

भावार्थ हुआ-जैसे सुरक्षित वायुरहित स्थान में रखे दीपक की लौ नहीं डोलती-यही उपमा योग के अभ्यास में लगे योगी के संयत चित्त की अवस्था की ओर संकेत करने के लिए दी गई है । (परमात्मा के ध्यान में लगे योगी का जीता हुआ चित्त ऐसा ही होता है ।)

कितनी सुंदर उपमा है-एक साधारण-सा व्यक्ति भी समझ सके, वह उदाहरण श्रीकृष्ण ने यहाँ दिया है । मन ऐसा हो कि जरा भी डगमगाने न पाए, जरा भी चित्तरूपी लौ प्रकंपित न हो । हमारे ऋषिगण योगी के संयत चित्त की अवस्था की ओर संकेत करने के लिए इसी तरह का उदाहरण देते रहे हैं । ‘संयत चित्त’ (विनियतं चित्तं) जिसकी बात १८वें श्लोक में कही, अब भगवान् उदाहरण सहित उसे समझा रहे हैं । सामान्यतः दीपक जब वायुरहित स्थान पर रखा जाता है एवं इसकी लौ पर त्राटक किया जाता है तो इसके न हिलने के कारण मन क्रमशः बहिर्त्राटक-अंतःत्राटक प्रक्रिया द्वारा स्थिर हो जाता है । परमपूज्य गुरुदेव ने इसे ज्योति-अवतरण-बिंदुयोग की साधना नाम दिया है । दीपक का यह ध्यान बड़ा ही पवित्र-आज्ञाचक्र का जागरण करने वाला तथा चित्त को जीत लेने वाला, काम-वासनाओं का हरण करने वाला बताया जाता है । संभवतः श्रीकृष्ण को इससे सुंदर कोई उदाहरण नहीं मिला । चित्त को संयत करने के लिए वे कहते हैं कि उसकी स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए, जैसी कि उस दीपक की लौ की होती है, जो जरा भी डगमगाए नहीं, सीधी-स्थिर-प्रकाशमान हो प्रखर बनी रहे । चित्त भी इसी तरह डोले नहीं, इधर-उधर न भागे ।

निष्कंप लौ की तरह हो चित्त

वैसे दीपक की लौ को यदि हम सूक्ष्मदर्शी दृष्टि से देखें तो पाएँगे कि उसका यह नृत्य इतना तेज गति से होता है कि वह देखने में स्थिर ही दिखाई देता है । आधुनिक भौतिकीविद् इस तथ्य को स्थापित कर चुके हैं । लेकिन हमारे ऋषिगण ध्यान के लिए उसी लौ की बात कहते रहे हैं, जो निष्कंप अवस्था में वायुरहित स्थान पर दीपक की बाती से निकलती हमें दिखाई देती है । सांसारिक कामोद्वेग-आकांक्षाओं और अहंता की आँधियाँ हमारे अंतःकरण चतुष्टय को निरंतर प्रभावित करती हैं । हमारा मन व बुद्धि उसके प्रभावों से बच नहीं पाते । जब

हम ध्यान की स्थिति में बैठते हैं तो हमें यही ध्यान रखना है कि हमारा मन व चित्त स्थिर है, इन झोकों में हट नहीं रहा । यदि वास्तव में ऐसा होता है, तब हम अपने आप को ध्यान में स्थित मान सकते हैं ।

कब होता है चित्त असंयत

मन हमारा तीन ही प्रकार की स्थितियों में उद्विग्न व विक्षुब्ध होता है—काम, लोभ एवं अहं । इन्हीं को वासना, तृष्णा एवं अहंता कहा गया है । काम की पूर्णता में—कामुकता की पूर्ति में व्यवधान आता है, तो वही क्रोध बन जाता है । तृष्णा—लालच आज बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा है; क्योंकि हम भोगवादी समाज में जी रहे हैं । नकल व प्रतिद्वंद्विता भी व्यक्ति से नादानी कराती दीखती है । सबसे बड़ी फुफकारने वाली नागिन अहं की है । ‘अहं’ की टकराहट ने ही ढेरों द्वंद्वों को एवं अच्छी-खासी प्रतिभाओं को मिट्टी में मिलते देखा है । अहं और कुछ नहीं, यह मान्यता है कि सृष्टि का केंद्र मैं हूँ, कोई और नहीं । किसी भी दिव्यकर्मी—साधक—ध्यानयोगी के मार्ग की बाधाएँ ये तीन ही हैं; क्योंकि इन्हीं के कारण चित्त असंयत होता रहता है एवं मन—बुद्धि—चित्तरूपी अंतस् के दीपक की शिखा—लौ—हिलती—डोलती रहती है । जब तक ऐसा होगा, मन कैसे लगेगा ? इसीलिए सभी ऋषिगण, विद्वज्जन एवं श्रीकृष्ण जैसे योग मनीषी बार—बार यही राय देते रहे हैं कि इनसे बचो; क्योंकि ये रजोगुण की वृद्धि कर व्यक्ति को तमोगुणी बनाते हैं । समाजसेवा में भी ये ही तीन बाधाएँ हैं, जो किसी के अंदर छिपी अनंत संभावनाओं को उजागर करने में एक प्रकार से विघ्न बनती हैं । यह बात बार—बार श्रीकृष्ण ने ‘काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः’ (तीसरे अध्याय का ३७वाँ श्लोक) तथा त्रिविधं नरकस्य इदं द्वारं नाशनम् आत्मनः, (सोलहवें अध्याय का २१वाँ श्लोक) के माध्यम से कही है । जो व्यक्ति इन तीनों को भी पालेगा

तथा योगी भी बनने का प्रयास करेगा, वह एक प्रकार से अधोगति को ही प्राप्त हो रहा होगा; क्योंकि ऊपर का द्वार तो उसके लिए खुलने वाला है नहीं ।

बाधक आँधियाँ

ध्यान हेतु सबसे बड़ी जरूरत है-‘संयत चित्त’ एवं वह भी ‘आत्मनि अवतिष्ठते’ हो-परमात्मा में लगा हुआ हो तथा सभी प्रकार के काम्य विषयों के प्रति वह पूर्णतः वासनारहित, आसक्तिरहित (निस्पृह) हो, निर्लोभ हो, तभी उस व्यक्ति के ध्यानयोग में प्रवृत्त होने की बात कही जा सकती है। निस्पृहता में एवं चित्त की संयतता में बाधक हैं वे आँधियाँ, जिनका जिक्र ऊपर किया गया । जो इन तीन खाइयों को पार करके छलाँग लगाकर बाहर आ गया, वह जीवन-समर का पहला सोपान पार कर गया, पर अधिकांश तो इन्हीं तीन में उलझकर सारा जीवन पुत्रैषणा (वासना), वित्तैषणा (तृष्णा) एवं लोकैषणा (अहंता) में-इनकी पूर्ति में ही बिताते देखे जाते हैं । ध्यान में मन लगे तो कैसे ?

दुःखनाशक योग ही हो हम सबका लक्ष्य

श्रीकृष्ण चाहते हैं कि ध्यान में अर्जुन जैसा साधक प्रवृत्त हो; क्योंकि योग ही ऐसी प्रक्रिया है, जो दुःखनाशक है (योगो भवति दुःखहा) । अर्जुन विषाद योग से पीड़ित है एवं हम सभी ९९.९ प्रतिशत धरती पर रहने वाले लोग भी इस कष्ट से गुजर रहे हैं । अंदर के अनुभव-निज स्वरूप की प्राप्ति के लिए मन हमारा छलाँग लगाना चाहता है-दिव्य चैतन्य अवस्था की प्राप्ति उसकी अभिलाषा है । वह बार-बार कहता है कि वही सच्चिदानंद मैं हूँ-एकोऽहम् द्विऽतीयो नास्ति-सोऽहम्, किंतु वह यह नहीं जानता कि इस छलाँग के लिए उसका ऊर्ध्वगामी होना, दीपशिखा की तरह निष्कंप होकर किसी भी प्रकार

के झंझावातों से सुरक्षित रहना, कितना जरूरी है । जैसे-जैसे ध्यान में यह स्थिरता बढ़ती है, वैसे-वैसे निर्लिप्तता-निरासक्ति, निस्पृहता बढ़ती जाती है-अपरिग्रह एवं विनम्रता आती जाती है । व्यक्तित्व रूपांतरित होने लगता है एवं प्रचंड मनोबल से ओतप्रोत हम हो चुके होते हैं । फिर ध्यान तो सफल होगा ही ।

परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं-“वासनाएँ आदमी को नींबू की तरह निचोड़ लेती हैं । जीवन में से स्वास्थ्य, संतुलन, आयुष्य जैसा सब कुछ निचोड़कर उसे छिलके जैसा निस्तेज बनाकर रख देती हैं । तृष्णाओं की खाई इतनी गहरी है कि जिसे रावण, हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर जैसे प्रबल पराक्रमी भी समूचा पौरुष दाँव पर लगा देने के बाद भी पाट सकने में तनिक भी समर्थ न हुए । अहंकार प्रदर्शित करने के दर्प में संसार भर को चुनौती देने और ताल ठोकने वाले किसी समय के दुर्दांत में से अब कोई नहीं दीख पड़ता । राजाओं के मणिमुक्तकों से जड़े राजमुकुट और सिंहासन जाने धराशायी होकर कहाँ धूल चाट रहे होंगे ?” (‘जीवन देवता की साधना-आराधना’-वाङ्मय खण्ड २, पृष्ठ नं ३.४) । बड़ा ही स्पष्ट चिंतन है । हम इन दुष्प्रवृत्तियों से उबरें एवं मानव जीवन की गरिमा समझें । एक श्रेष्ठ कर्मयोगी बनें । ध्यान द्वारा आत्मोत्कर्ष करें, यही श्रीकृष्ण की भी तो इच्छा है ।

कामनाओं से मुक्ति ही सिद्धि का राजमार्ग

सर एडविन अर्नाल्ड ने पुस्तक लिखी है-‘लाइट ऑफ एशिया’ । उसमें वे लिखते हैं कि बुद्ध को सतत देववाणी सुनाई पड़ती थी सोते-जागते । वह यही कहती कि जब तक कामनाओं के संसार से नहीं निकल जाते, तब तक अनुभूति नहीं होगी, निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी । इन्हीं देववाणियों ने उन्हें कामनाओं के जाल से निकाला एवं वे सारी भोग-वासनाओं को लात मारकर गौतम बुद्ध हो गए । हर व्यक्ति के अंदर ये संभावनाएँ छिपी पड़ी हैं । समस्या यही है कि हम अपने आप

को ही सुन नहीं पाते । औरों को सुन लेते हैं । सभी कुछ मुग्ध करने वाले दृश्य देख लेते हैं, उनमें आसक्ति भी पैदा कर लेते हैं, पर अपनी आत्मसत्ता से निस्सृत हो रही देववाणी नहीं सुन पाते । शिष्यत्व का एक प्रमुख लक्षण है-इस लोक और परलोक में सभी कामनाओं का त्याग । जिसने अपनी कामनाएँ छोड़ दीं, उसका मन-चित्त संयत हो गया और फिर वह परमात्मसत्ता में प्रतिष्ठित हो गया । गोस्वामी तुलसीदास जी कह रहे हैं-“कहऊँ कवन सिद्धि लोक रिझाए।” तुम खुद सोचो कि लोक को रिझाकर कौन-सी सिद्धि तुम्हें मिल जाएगी । फिर न जाने क्यों हम बार-बार उसी मार्ग पर चले जाते हैं । ऋषियों के अनुसार यही माया है ।

गीता के छठे अध्याय के इन दोनों श्लोकों-१८वें व १९वें का मर्म यही है कि ध्यान सफल तब ही होगा, जब हम कामनाओं के जाल से निकलेंगे । ध्यान अपने चित्त को निर्मल बनाने की प्रक्रिया भी है तथा उस ध्यान को कैसे किया जाए, इसके लिए श्रेष्ठतम उदाहरण हमारे दैनंदिन जीवन का है-हमारी पूजास्थली में वायुरहित स्थान पर रखा एक दीपक, जिसकी ज्योति निरंतर प्रज्वलित है, निष्कंप है एवं हमें, हमारे चित्त को भी इस संसार-सागर में वैसा ही बनाए रखने की प्रेरणा देती है । हम कितने ही बुद्धिवादी हों, शास्त्रज्ञान जानते हों, यह स्पष्ट मान लें कि उससे आध्यात्मिक प्रगति संभव नहीं । बुद्धि के बंधनों-वासना, तृष्णा, अहंताओं से ऊपर जाकर ही हम शुद्ध आनंदमय चैतन्य को पा सकते हैं ।



योग की परमावस्था की ओर ले जाते योगेश्वर

झंझावातों से चित्त को प्रभावित न होने दें

दीपक की निश्चला लौ की तरह हम इस लौकिक जगत् में नित्य आते रहने वाली कामवासनाओं -अहंताओं-तृष्णाओं के तूफानों से स्वयं के चित्त को सुरक्षित बनाए रखें, यह योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्पष्ट निर्देश है। परमात्मा के ध्यान में लगे योगी का जीता हुआ चित्त इसी तरह होता है, यह बात अठारहवें व उन्नीसवें श्लोक में कही गई। जगद्गुरु श्रीकृष्ण हमें उँगली पकड़कर ध्यानयोग के मार्ग पर चलना सिखा रहे हैं। वे यह भी जानते हैं कि उन्हें मात्र अर्जुन के स्तर तक नहीं—और भी नीचे सामान्य व्यक्ति के, जो अहंकेंद्रित बुद्धि से संचालित होता रहता है, स्तर पर उतरकर समझाना होगा। इसीलिए वे अगला श्लोक एक सुंदर-सी उपमा के तुरंत बाद कह उठते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ६/२०

पहले शब्दार्थ देखें—“जिस अवस्था में (यत्र), योगाभ्यास के द्वारा (योगसेवया), निरुद्ध-संयमित (निरुद्धं), चित्त (चित्तं) उपरत होता है [जिसमें विषय-संस्पर्श नहीं रहता] (उपरमते), जिस अवस्था में (यत्र), शुद्ध मन के द्वारा (आत्मन एव), आत्मा में (आत्मनि), आत्मा को (आत्मानं) अपरोक्ष रूप से अनुभव करके (पश्यन्) परितुष्ट होते हैं (तुष्यति), हे अर्जुन इसी स्थिति को योग कहते हैं।” इसी का भावार्थ ऐसा हुआ—“जहाँ योग के अभ्यास द्वारा संयत हुआ मन उपराम हो जाता है (जिस स्थिति में विषय-संस्पर्श तनिक भी नहीं रहता) और जहाँ आत्मा द्वारा आत्मा का अनुभव करते हुए (परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई बुद्धि द्वारा परमात्मा की साक्षात् अनुभूति करते

हुए) अपनी आत्मा में ही (सच्चिदानंदघन परमात्मा में) परमतृप्ति का अनुभव करता है—(उसी स्थिति को योग कहा जाता है)।” ६/२०
योग की एक विलक्षण अवस्था

यह वस्तुतः योग की अवस्था की व्याख्या है, जो क्रमशः २०, २१, २२, २३वें श्लोक तक चली आती है। इस समग्र व्याख्या का एक अंश बीसवें श्लोक में आया है, पर इतना कुछ संस्कृत के इन शब्दों में सिमट आया है कि इसकी व्याख्या में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहाँ गीताकार की काव्यात्मक शैली की अभिव्यक्ति की भूरि-भूरि सराहना का मन करता है। इस श्लोक में एक तो “विनियतं चित्तं” से आगे की बात कही गई है—“उपरमते चित्तं”—चित्त उपराम हो जाता है—किसी भी प्रकार के भोगपरक विषयादि उसे स्पर्श नहीं कर पाते। दूसरी बात कही गई है—“आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति”। शुद्ध मन-बुद्धि द्वारा (ध्यान के माध्यम से) परमात्मा की साक्षात् (अपरोक्ष) अनुभूति करते हुए परम तृप्ति की अनुभूति। योगेश्वर कृष्ण ध्यानयोग की व्याख्या करते हुए उसे पराकाष्ठा पर लेकर आ रहे हैं, जहाँ व्यक्ति आनंद की परमावस्था तक पहुँच जाता है। शब्दों का चयन इतना सुंदर है कि ‘आत्मा’ शब्द जहाँ हमें अपने अंदर विद्यमान आत्मसत्ता का भान कराता है, वहीं सच्चिदानंदघन परमात्मा का भी वह सूचक है; क्योंकि उसी का अंश तो हम सबमें विद्यमान है। एक और अद्भुत शब्द इसमें आया है—“योगसेवया” योगाभ्यास द्वारा। योग का अभ्यास-नियमित ध्यान को योगसेवया नाम से श्रीकृष्ण संबोधित करते हैं।

अभी तक श्रीकृष्ण की सारी व्याख्याएँ (छठे अध्याय में) मन की विषयों के पीछे अंधाधुंध भगदड़ को बंद करने के लिए हुई हैं। ज्यों ही यह दौड़ बंद होती है, मन शांत हो जाता है, उपरामता को प्राप्त हो जाता है एवं व्यक्ति अपने अंदर महान शांति की अनुभूति करता है।

जैसे-जैसे मन शांत होता चला जाता है, ध्यान की स्थिति में पहुँचकर वह उतनी ही ऊँचाई तक जाने लगता है। मन शांत स्थिति में जाकर जितनी गहराई में डुबकियाँ लगाता है, उतनी ही उसकी दृष्टि सूक्ष्म होती जाती है एवं ध्यान से इस तरह शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धि द्वारा साधक परमात्मा का साक्षात्कार करता हुआ परमतृप्ति भरे आनंद का अनुभव करने लगता है। वह इस दिव्य अनुभव के साथ स्वयं को परमात्मा से लीन हुआ महसूस करने लगता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप (शिवोऽहम्, सच्चिदानंदोऽहम्, सोऽहम्) जान लेने के बाद उसकी सारी भ्रांतियाँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं।

बुद्धि सूक्ष्म हो, शुद्ध हो

आत्मा के इस अनुभव के प्रति जागरण ही ध्यान का उद्देश्य है। योग की इसी अवस्था में श्रीकृष्ण ले जाने की कोशिश कर रहे हैं। मन यहाँ विलीन हो जाता है। मन के समाप्त होते ही सारी कल्पनाओं, स्वप्नों, कामनाओं, आकांक्षाओं, तृष्णाओं, कामोद्वेगों, सभी की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। बार-बार श्रीकृष्ण का जोर बुद्ध को सूक्ष्म-शुद्ध बनाने पर व मन को विलय करने पर है। मन, बुद्धि, चित्त को पार करके ही शुद्ध अहं तक पहुँच हो सकती है, जहाँ परमात्मा स्वयं विद्यमान हैं। परमात्मा से अपने अंदर साक्षात्कार का अनुभव कृतकृत्य करने वाला, अनंत तृप्ति देने वाला एवं शांति देने वाला है। यह ध्यान की सर्वोपरि उपलब्धि है एवं यहाँ तक पहुँचने का सभी को आमंत्रण है।

पहले पंद्रहवें श्लोक में श्रीकृष्ण कह चुके हैं—(छठे अध्याय में ही) “योगी निर्वाण की उस परम शांति को प्राप्त होता है, जिसकी आधारशिला-नींव मेरे अंदर है।” “शांतिं निर्वाण परमां मत्संस्थाम् अधिगच्छति।” निर्वाण की यह शांति तभी मिलती है जब चित्त पूर्णतया संयत और कामनामुक्त है। (विनियतं चित्तं), आत्मा में स्थित हो, जब वह वायुशून्य स्थान में स्थित दीपशिखा के समान अचल होकर

अपने सभी चंचल कर्म करना बंद कर दे एवं अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अंदर खींच ले। आत्मा में आत्मा का साक्षात्कार होने की स्थिति में जीव परम तृप्ति का अनुभव करता है, वास्तविक परमसुख की अनुभूति करता है। उस अशांति देने वाले सुख की नहीं, जो मन और इंद्रियों की खेलकूद के कारण उसे प्राप्त है, बल्कि वह आंतरिक आनंद जो परम शांति देने वाला है, जिसमें मन का कोई विक्षोभ नहीं है, जिसमें स्थित ध्यानयोगी को अपनी सत्ता के, आध्यात्मिक सत्य के अति समीप पहुँचा देती है। मानसिक दुःख-संक्षोभ-विक्षोभ सभी बहिरंग के विषयों के संस्पर्श के कारण हैं। ऐसे दुःखों से संबंध-विच्छेद को श्री अरविंद मन का दुःख के साथ तलाक देने के समान बताते हैं। इसी आध्यात्मिक आनंद की प्राप्ति, जिसमें बहिरंग के दुःख कष्ट नहीं देते, जिसमें आत्मा-परमात्मा का मिलन हो जाता है, श्रीकृष्ण के अनुसार योग है, भगवान् से ऐक्य है, जीव-ब्रह्म मिलन है एवं इसी परम लाभ वाले लक्ष्य तक पहुँचा देना योगेश्वर का उद्देश्य है।

ध्यानयोग का लक्ष्य

परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी लिखते हैं—
 “ ध्यानयोग का उद्देश्य अपनी मूलभूत स्थिति के बारे में, अपने स्वरूप के बारे में सोच-विचार कर सकने योग्य स्मृति को वापस लौटाना है। यदि किसी प्रकार वह वापस लौट सके तो लंबा सपना देखकर डरे हुए व्यक्ति जैसी अंतःस्थिति हुए बिना नहीं रह सकती। तब प्रतीत होगा कि मेले में खोए हुए बच्चे से, आत्मविस्मृत मानसिक रोगियों से अपनी स्थिति अभिन्न नहीं रही है। इस व्यथा से ग्रसित लोग स्वयं घाटे में रहते हैं औरों को दुखी करते रहते हैं, विस्मरण का निवारण, आत्मबोध की भूमिका में जागरण—यही है ध्यानयोग का लक्ष्य। उसमें ईश्वर का स्मरण किया जाता है, अपने स्वरूप का अनुभव किया जाता है। जीव

और ब्रह्म के मिलन की स्मृति फिर से ताजा की जाती है।” (पृष्ठ २४-२५, ‘उपासना के दो चरण जप और ध्यान’ से उद्धृत)

ध्यान पर परम पूज्य गुरुदेव की व्याख्या एवं उनके द्वारा कराए गए विभिन्न प्रकार के ध्यान के निर्देशों को देखते हैं तो लगता है कि वह गीता के इन्हीं श्लोकों की व्याख्या है। कई प्रकार के ध्यान परम पूज्य गुरुदेव द्वारा उन्हीं की वाणी में कराए गए टेपांकित हैं। उनमें त्रिवेणी स्नान वाला एक ध्यान ऐसा है, जो इसी प्रकार के निर्देशों पर टिका है, जिसमें हमें आत्मतत्त्व का सामीप्य मिल सके, हम अपने निज के परमात्मरूप की अनुभूति कर तृप्ति, तुष्टि, शांति को अनुभव कर सकें। नित्य-नियमित ध्यान शांतिकुंज की विशेषता रही है और प्रातः, दोपहर, शाम की त्रिकाल संध्याओं में ओटोसजेशन (आत्मनिर्देश), लययोग एवं नादयोग ध्यान द्वारा लाखों व्यक्ति लाभान्वित हुए हैं। अंतः ऊर्जा जागरण के मौन सत्रों में यह लाभ विशेष मिलता है।

निरुद्ध चित्त की योगसेवा

प्रस्तुत बीसवें श्लोक में एक शब्द ‘योगसेवा’ आया है। कहा गया है कि योगसेवा से चित्त निरुद्ध हो जाता है। गीताप्रेस गोरखपुर के श्री जयदयाल जी गोयंदका लिखते हैं, “ध्यानयोग के अभ्यास का नाम ही योगसेवा है। सतत ध्यानयोग का अभ्यास करते-करते जब चित्त एकमात्र परमात्मा में-सच्चिदानंदधनपरमेश्वर में भलीभाँति स्थित हो जाता है तब वह निरुद्ध कहलाता है।” वस्तुतः “योगः चित्तवृत्ति निरोधः” वाली पतंजलि की व्याख्या यहाँ स्पष्ट रूप में योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा की गई है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसे ही योगी का चित्त परमात्मा के स्वरूप में निरुद्ध हो जाता है, उस समय वह संसार से हमेशा के लिए उपरत हो जाता है, उपरत होने का अर्थ है, फिर अंतःकरण में लौकिक-कामनाओं-आकांक्षाओं की इच्छा कभी उत्पन्न न होना, सदा के लिए

समाप्त हो जाना। संसार में रहते हुए भी सभी प्रकार की इच्छाओं से चित्त का उपराम हो जाना योग की उच्चतर अवस्था में पहुँच जाना है।

श्री बाल गंगाधर तिलक जेल में लिखी गई अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'गीता रहस्य' में लिखते हैं, "उन्नीसवें श्लोक में जिस चित्तवृत्ति निरोध की बात एक उपमा से कही गई, उसी की व्याख्या रूप में बीसवें से तेईसवें श्लोक तक विस्तार से आई है। यह वस्तुतः इसी तथ्य की व्याख्या है कि समाधि चित्तवृत्ति निरोध की ही पूर्णावस्था है। इसी को योग कहते हैं। दुःखरहित स्थिति जो प्राप्त होती है, वही ब्रह्मानंद है, आत्मानंद है।"

अब शेष श्लोकों को तो बाद में समझेंगे, इस श्लोक (क्र० ६/२०) में जो गूढ़ बातें आई हैं, उनका स्पष्टीकरण अनिवार्य है। योग सतत करते हुए ध्यान लगाते-लगाते योगी परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति करता हुआ उन्हीं में मन लगाता हुआ शांति को प्राप्त होता है। यह बात "आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति" के माध्यम से आई है। यह ध्यान की सर्वोपरि उपलब्धि है। हमारे मन का हर समय शांति स्थिति में होना परम तप कहा गया है। जिस अंतःकरण में शांति जितनी गहरी होगी, वहाँ शक्ति भी उतनी ही सघन होगी। शांति वह धुरी है, जहाँ सारे आध्यात्मिक गुण स्वतः आते चले जाते हैं। जिन ऋषियों ने शांति मंत्र लिखे हैं, उन्होंने सब ओर ब्रह्मांड में शांति के ही दर्शन किए हैं। यह मात्र निस्तब्धता नहीं है, एक प्रकार की घनीभूत ऊर्जा है, जो मनुष्य को पूर्णतः रूपांतरित कर देती है।

अंतःकरण में शांति की स्थापना

इसी तथ्य को परमपूज्य गुरुदेव ने इस तरह कहा है—"मनःस्थिति बदले तो परिस्थिति बदले।" यदि हर व्यक्ति का मन बदल जाए, अंदर शांति स्थापित हो जाए तो बाहर भी सब शांतिमय हो जाएगा।

व्यक्ति निर्माण से युग निर्माण की परिकल्पना उनने इसी आधार पर की है। बुद्ध के हृदय की शांति ने अंगुलिमाल को बदला, इसी प्रकार हम योग द्वारा सारे संसार को बदल सकते हैं। क्रोध तो शांति के अभाव का नाम है। क्रोध जाते ही बोध हो जाता है कि हम कौन हैं, हमारी आत्मसत्ता क्या है, हमें कैसा होना चाहिए? मन की शांति, अंतःकरण की शांति आज की परम आवश्यकता है। उसकी तलाश लोग बाहर करते हैं, है वह अंदर ही। श्री अरविंद ने ठीक ही तो कहा है—“इनर रेगुलेट्स आउटर बिईंग”। श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हर व्यक्ति गीता की शिक्षा पर चले। मन को शांत बनाए, अपने अंदर बैठे परमात्मा से ‘योग’ स्थापित करे एवं नियमित योगाभ्यास द्वारा साक्षात् उसकी अनुभूति नित्य करे। यदि ऐसा होने लगे तो ‘व्यक्ति निर्माण’-दिव्यकर्मी ध्यानयोगी महामानवों का निर्माण स्वतः होने लगेगा।

अब इक्कीसवें, बाइसवें और तेईसवें श्लोकों की ओर चलते हैं। बीसवें श्लोक तक आते-आते इस अध्याय में इतना कुछ प्रभु कह गए हैं कि यह उसी के लिए बोधगम्य है, जो अपने ‘अहं’ से परे हटकर सोचता हो। बौद्धिक रूप से सोचने वाले को भी यह जानना जरूरी है कि ध्यान क्यों जीवन में जरूरी है, नियमित आत्मा के आहार के रूप में इसकी इतनी अनिवार्यता क्यों बताई गई है एवं ध्यान से और भी उच्चतर उपलब्धियाँ ऐसी क्या हैं, जिनकी तुलना में लौकिक लाभ गौण मालूम होते हैं। जीवनदृष्टि हर व्यक्ति की बदले, चाहे वह भक्तिमार्गी हो कर्मयोगी हो अथवा ज्ञानयोगी, बुद्धि से जुड़ा हो या भावना से एवं हृदय से ध्यान को आत्मसात् करे। इसलिए श्रीकृष्ण तीन श्लोक और लेकर १८, १९, २०वें श्लोक में कही गई अपनी बात को विस्तार से २१, २२, २३वें श्लोक में समझाते हैं, ताकि किसी प्रकार का कोई संशय न रह जाए। इन तीनों श्लोकों में एक अनुभूति को प्राप्त निष्णात् शिक्षक की तरह योगाचार्य श्रीकृष्ण हमें अपने गहराई तक फैले अंतस् की एवं ध्यान की अवस्था का पूर्णतः बोध कराते हैं।

उच्च कक्षाओं की ओर

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यामतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६/२१

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६/२२

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ ६/२३

अब इन तीनों का शब्दार्थ देखते हैं—

“जिस अवस्था में (यत्र), यह योगी (अयं), केवल बुद्धि के द्वारा जानने योग्य (बुद्धिग्राह्यम्), इंद्रियों से भी परे (अतीन्द्रियम्), अत्यंत (आत्यन्तिकं), जो (यत्), आनंद है, (सुखं), उसे (तत्), अनुभव करता है, जानता है (वेत्ति), और जिस अवस्था में स्थित होकर (यत्र च स्थितः), परमात्मा के स्वरूप से विचलित नहीं होता (तत्त्वतः न चलति)।” [इसी अवस्था को योग कहते हैं] ६/२१

“वैसी अवस्था को (तं), दुःखरूपी संसार के संयोग से रहित (दुःख संयोग वियोगं), योग रूप में जानना चाहिए (योग संज्ञितम्), समझना चाहिए (विद्यात्) (एवं), वह (सः), योग (योगं), बिना ऊबे हुए चित्त से—धैर्यपूर्वक (अनिर्विण्णचेतसा) दृढ़निश्चय के साथ उत्साहयुक्त चित्त से (निश्चयेन) किया जाना चाहिए, योगयुक्त होना चाहिए। (योक्तव्यः)।” ६/२३

योग की परम स्थिति

यहाँ आकर अठारहवें से आरंभ हुई योग की एवं बीसवें से आरंभ हुई योग की अवस्था की व्याख्या योगेश्वर द्वारा परिपूर्ण होती है। इस बीच में इतना कह गए हैं कि इसकी विशद विवेचना हमें करनी ही होगी, नहीं तो हम ध्यान का मर्म नहीं जान पाएँगे। पहले तीनों का भावार्थ देखते हैं—

जिस अवस्था में योगी उस अनंत आनंद का अनुभव करता है, जो इंद्रियातीत है एवं केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य

है। जिसमें स्थित होकर योगी उस परमात्मा के स्वरूप से (अपने वास्तविक स्वरूप से) कभी विचलित नहीं होता। ६/२१

जिसे प्राप्त करके (परमात्मा की प्राप्तिरूपी लाभ) उससे बड़ा लाभ कोई और दूसरा लाभ वह योगी मानता नहीं और परमात्म प्राप्तिरूपी जिस अवस्था में स्थित होकर वह बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता। ६/२२

जो दुःखरूपी संसार के संयोग से रहित है, उसी को योगरूप में जानो। योग का न उकताए हुए अर्थात् धैर्य रखने वाले और उत्साहयुक्त चित्त द्वारा (निराशा की तरंगों से विक्षुब्ध हुए बिना) अभ्यास दृढ़ निश्चय के साथ किया जाना चाहिए, एक कर्तव्य के रूप में संपादित किया जाना चाहिए। ६/२३

शब्दार्थ व भावार्थ से, जटिल संस्कृत की शब्दावली के संयोजन से बने श्लोक परत-दर-परत खुलते चले जाते हैं। वह योग हमारे सामने स्पष्ट होने लगता है, जिसमें श्रीकृष्ण हमें स्थापित करना चाहते हैं व जिसके विषय में वे 'आत्म-संयम योग' की छठे अध्याय की व्याख्या की शुरुआत से हमें समझा रहे हैं। वे बड़ा स्पष्ट कह रहे हैं कि योग की यह चरमावस्था है। इसमें प्रवेश करने के बाद व्यक्ति कभी अपने वास्तविक स्वरूप से च्युत नहीं होता, परमात्मसत्ता से उसका कभी विलगाव नहीं होता। ऐसा योग साधने के बाद साधक सबसे बड़ा लाभ फिर उसी को मानने लगता है, उसकी तुलना में कोई और भौतिक लाभ उसे बहुत गौण प्रतीत होता है तथा ऐसी स्थिति में बड़े-से-बड़ा दुःख भी उसे विचलित नहीं करता। वह जरा भी परेशान नहीं होता, धैर्यपूर्वक कष्टों को सहन करता हुआ वह दुःखों के संयोग के वियोग को ही योग मानता है। इस योग का वह बिना धैर्य खोए, बिना विक्षुब्ध मन के अभ्यास आरंभ कर देता है।



परमात्मारूपी लाभ को प्राप्त व्यक्ति दुःख में विचलित नहीं होता

बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्

भगवान् सर्वप्रथम २१वें श्लोक में कहते हैं कि उसी अवस्था को योग कहते हैं, जिस स्थिति में जाकर योगी परमात्मा के स्वरूप में ही सतत बना रहता है, कभी विचलित नहीं होता। वहाँ वह इंद्रियों से भी परे जो आनंद है, उसे सतत अनुभव करता है और उसका एहसास भली भाँति अपने अंदर करता है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य है। जब हमारा मन पूरी तरह दम तोड़ दे एवं सतत चल रही विचारों की शृंखला टूट जाए, तो समझना चाहिए कि अब हम अतीन्द्रिय स्थिति में पहुँच गए हैं। यहाँ तल्लीनता का भाव पैदा होगा, तन्मयता का, तद्रूपता का, उस परम सत्ता के साथ तादात्म्य का, जो हमारा परम इष्ट है। यही अनंत आनंद की अनुभूति दिलाने वाला क्षेत्र है। यह आनंद उसी बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो पूर्णतः शुद्ध है। ध्यान के माध्यम से शुद्ध हो चुकी है (बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्)। इंद्रियातीत स्थिति में पहुँचकर ही इस परमावस्था का अनुभव साधक को होता है।

अलौकिक स्तर का सबसे बड़ा लाभ

आगे २२ वें श्लोक में भगवान् कहते हैं कि “जिस परमात्मा की प्राप्तिरूपी लाभ को प्राप्त करके उससे बड़ा लाभ वह योगी मानता नहीं और इस अवस्था में स्थित होकर वह बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता।” (यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥) जीवन-संग्राम में सही ढंग से जीने वाला इसी स्तर का साधक होता है। लाभ की भाषा हर लौकिक स्तर के व्यक्ति को समझ में आती है। श्रीकृष्ण कहते हैं

कि यह इंद्रियजन्य सुखों वाला पुरुषार्थ लौकिक जगत् का है, अतृप्ति देने वाला है, सतत अशांति ही देता है; किंतु जैसे ही मनुष्य ध्यान द्वारा अपना आंतरिक समत्व बढ़ाता है (इनर इक्वीलिब्रियम—अंतर्जगत् का संतुलन), उसे ऐसी अनुभूति होने लगती है कि उसके व्यक्तित्व के सभी स्तरों को तृप्ति मिल रही है। यह होता है उस अलौकिक स्तर के लाभ के कारण, जो उसे परमात्मा में स्थित होने से ध्यान की परिणति स्वरूप मिलता है। इस लाभ को पाने के बाद फिर शेष सारी बातें इसके समक्ष गौण हो जाती हैं। फिर वह इंद्रियतुष्टि हेतु बहिरंग में नहीं भटकता।

इसी के साथ आनंद के इस आंतरिक उद्गम का अन्वेषण कर, आस्वादन कर वह बहिरंग संसार के महानतम दुःखों, व्यक्तिगत जीवन की आफतों-कष्टों आदि से जरा भी विचलित नहीं होता। अपने अंदर के आनंद के भण्डार को खोज लेने के बाद वह एक अपार स्तर की सहनशक्ति विकसित कर लेता है। उस स्थिति में पहुँचकर वह तमाम सांसारिक दुःखों की अवहेलना कर देता है। उसे लगता है कि ये सब जो घटनाएँ घट रही हैं उसके भीतर तो हैं, किंतु उसकी हैं नहीं। सभी उससे बहुत दूर हैं, उसे घबराने की कोई जरूरत नहीं।

हम सभी लोकमान्य तिलक के जीवन की घटना को जानते हैं। वे 'केसरी' समाचारपत्र का संपादन कर रहे थे, जिसकी प्रतीक्षा उन दिनों सारा राष्ट्र करता था। पुत्र के निधन का समाचार उन्हें मिला। तब वे डेस्क पर थे। उस समाचार ने उन्हें तनिक भी विचलित नहीं किया। वे तुरंत गहन ध्यान की स्थिति में गए, प्रारब्धवश हुई इस दुर्घटना का कारण जाना एवं फिर काम में जुट गए। हम सभी इस उच्च अवस्था में नहीं पहुँच सकते; किंतु प्रयास तो कर सकते हैं कि परमात्मा में स्थित होकर अपने अंदर के उस स्रोत को पहचानें, जिसे जानने के बाद बड़े-से-बड़ा दुःख भी विचलित नहीं करता।

दुःख से मिटते हैं प्रारब्ध

जिसे भगवान् मिल गए, वह बड़े-से-बड़ा दुःख भी हँसकर सहन कर लेता है, उसके हर अवरोध मिट जाते हैं। भगवान् महावीर इस स्थिति को 'धर्ममेध समाधि' कहते हैं। इसमें साधक कैवल्य में एकाग्र हो जाता है। भगवान् महावीर स्वयं ध्यान की गहराइयों में जा रहे थे, तो उन्हें लगा कि उनका मन नहीं लग रहा, बार-बार डाँवाडोल हो रहा है। उनने यह जानने का प्रयास किया कि इसका कारण क्या हो सकता है ? उनने पिछले जन्मों को देखना आरंभ किया। कौन-सा ऐसा पाप है ? जो उनकी कैवल्य समाधि में बाधक बन रहा है। यह देखते-देखते वे पूर्व के जन्मों में चौथे जन्म में पहुँचे। देखा कि उनका जन्म एक राजा के रूप में हुआ था और उनका नाम था 'पृष्ठ वासुदेव'। वे एक ऐश्वर्यशाली राज्य के स्वामी थे। एक दिन मन में आया कि वीणा बजाएँ। वीणा बजाने लगे, तो देखा कि उनके अधीनस्थ काम करने वाला एक दास बड़े एकाग्र भाव से वीणा सुन रहा है। सुनते-सुनते उसका ऐसा ध्यान लग गया है कि वह समाधि की-सी स्थिति में पहुँच गया है। दास का नाम था शैयापाल। जो बिस्तरों की देख-रेख करे, वह शैयापाल। राजा को बड़ा क्रोध आया कि वीणा हम स्वांतः सुखाय बजा रहे हैं व हमारा दास आनंद ले रहा है। अहंकारवश क्रोध आया और राजा (महावीर के पूर्व जन्म का रूप) ने पिघला हुआ सीसा शैयापाल के दोनों कानों में डलवा दिया। समय बीता। राजा की मृत्यु हो गई, पर यह कर्म गाँठ बन गया। जन्मों की इस शृंखला में परिपाक होते-होते वह इस स्थिति में पहुँच गया। ध्यान में देखा, तो पाया कि यही पाप मेरी समाधि में बाधक बन रहा है। उनने संकल्प से तरंगें भेजीं। हे शैयापाल ! तुम कहाँ हो। मेरे पास आओ और मुझे दंड दो; ताकि मैं उऋण हो सकूँ और समाधि को प्राप्त कर सकूँ। महावीर का यह पाँचवाँ जन्म था। उस शैयापाल का भी। उसके भी इतने ही जन्म हो चुके थे। ध्यान की स्थिति

में जब वे बैठे थे, तो एक किसान बैल लेकर आया और बोला कि हे साधु! तुम आँखें बंद करे बैठे हो, मन तुम्हारा नहीं लग रहा। तुम मेरे बैलों को देखते रहना, मैं अभी आता हूँ।

कैवल्य की प्राप्ति

महावीर समझ गए कि शैयापाल को संदेश पहुँच गया, वही आया है। बैलों को देखने के स्थान पर वे पुनः ध्यान में चले गए, बारंबार संदेश देने लगे कि मेरे संकल्पों से, कर्मों की जो गाँठ बँधी है, वह खुल जाए, ताकि मैं कैवल्य को प्राप्त कर सकूँ, इसी ध्यान की स्थिति में बैल चरते-चरते दूर चले गए। कुछ क्षणों बाद वह किसान लौटा। उसने पूछा कि उसके बैल कहाँ गए? महावीर तो ध्यान में थे, उनसे सुना नहीं। उस किसान ने दो कीलें लीं और महावीर के दोनों कानों में ठूँस दीं। उसे बड़ा संतोष हुआ, पर महावीर ने सारा कष्ट सह लिया; क्योंकि ऐसा होते ही उनकी कर्मग्रंथियाँ खुल गईं और वे कैवल्य को पहुँच गए। कुछ घंटों बाद गाँव वालों ने आकर कीलें निकालीं और कहा कि यह तुम्हारे साथ किसने किया? महावीर कुछ न बोले, मुस्कुराए, फिर कहा—कर्म-विधान ने सब किया; हित के लिए किया। शैयापाल ही आया था व अपना प्रतिशोध लेकर चला गया था। इसके साथ भगवान् महावीर का वह कर्म भी नष्ट हो गया एवं वे समाधि को प्राप्त हो गए। इस स्तर के साधक गुरुतर से भी गुरुतर कष्ट को सहनकर अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के बंधनों को काट लेते हैं। धैर्यपूर्वक कष्ट सहना बहुत बड़ा तप है। ऐसा ही व्यक्ति श्रेष्ठ योगी बन पाता है।

कोई भी पाठक इस घटना को अतिवादी मान सकता है। दोनों कानों में कीलें ठोकने पर भी क्या कोई व्यक्ति समाधिस्थ हो सकता है। हाँ, हो सकता है, यदि वह महावीर स्तर का हो एवं उसने छठे अध्याय के बाईसवें श्लोक का मनन गंभीरतापूर्वक किया हो। गंभीर-से-गंभीर स्तर का लौकिक कष्ट भी परमात्मा में स्थित होने पर हलका प्रतीत

होता है एवं इस लाभ की तुलना में सभी लाभ छोटे लगने लगते हैं। जो परमात्मा को सतत अपनी हर साँस में अनुभव करता है, वह भौतिक जगत् के बड़े-से-बड़े कष्टों को भी धैर्यपूर्वक भोगकर तप मानकर काट लेता है। भगवान् से हम सभी को यही प्रार्थना करनी चाहिए कि ऐसे कष्ट आएँ, तो हमारे प्रारब्ध कटें। यह समय रोते-रोते न कटे, प्रसन्नतापूर्वक निकल जाए। हम इन कष्ट के क्षणों को तप मानकर जीवन में आत्मिक प्रगति के पथ पर आगे-ही-आगे बढ़ते जाएँ। हम कभी भी अपना धैर्य न खोएँ।

आज की हमारी त्रासदी

आज सारा समाज एक अंधी दौड़ में भागा चला जा रहा है। किसी भी व्यक्ति को यह नहीं मालूम कि उसके लिए सच्चा लाभ देने वाला सौदा क्या है? भौतिक सुखों की प्राप्ति, ऐशो आराम, इंद्रियजन्य भोग, इन्हीं में उलझकर अच्छे-अच्छे प्रतिभावान अपने जीवन के मूल लक्ष्य को भूल जाते हैं। सारी व्याधियाँ हमारी कभी समाप्त न होने वाली 'ग्रीड'—हमारे लालच से पनपी हैं। हम प्रसन्न रहना चाहते ही नहीं। परमपूज्य गुरुदेव से प्रसन्न रहने के दो ही उपाय बताए हैं—एक अपनी परिस्थितियों से हम तालमेल बिठा लें। दूसरा अपनी आवश्यकताएँ कम करें। हमारी आवश्यकताएँ नित्य बढ़ती चली जाती हैं। हम नहीं जानते कि हमें उतना भर चाहिए, जिससे यह जीवन संतोषपूर्वक कट सके। हम तो अपने बाद की कई पुष्टों के लिए जमाकर रखके जाना चाहते हैं। हम जानते हैं कि हमारे साथ कुछ भी नहीं जाना। हमारा छोड़ा धन किसी और के पुरुषार्थ का न होने के कारण हमारे पुत्र-पुत्रियों के लिए अपयश का ही कारण बनेगा, दुर्व्यसनों का

ही स्रोत बनेगा। फिर भी सतत असुरक्षा में जीते हैं, दुःख भोगते हैं, थोड़ा-सा नुकसान भी हमें कष्ट दे देता है। आखिर यह नासमझी क्यों? वह भी समझदारों द्वारा। गीता एक संदेश यहाँ देती है हमें इस बाईसवें श्लोक द्वारा। हम सबसे बड़ा लाभ इस अपने जीवन का वही मानें, जिसमें हमें परमात्मा की अनुकंपा मिल जाए, उनकी शरणागति हम आ जाएँ, उनमें आदर्शों व सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय में हम स्थित हो जाएँ।

यदि ऐसा हो गया तो हमें संसार का सबसे बड़ा लाभ मिल गया। वह है—अनिर्वचनीय शांति, संतोष, सतत उल्लास, रचनात्मकता एवं विधेयात्मकता। उस परमात्म सत्ता की अनुभूति, हर साँस में, हर पल सतत। ऐसी स्थिति में बड़े-से-बड़ा दुःख (हमारे प्रियजनों का हमसे बिछुड़ना—अशोच्यानन्वशोचस्त्वं.....२/११ गीता), धन की हानि, गंभीरतम व्याधि, घनघोर अभाव जैसी स्थितियाँ भी आ जाएँ, तो हम कभी असंतुलित नहीं होंगे। परमात्मा उस स्थिति से हमें निकाल लेंगे; क्योंकि हम उस उच्च अवस्था में स्थित हैं, जहाँ वह हमारे साथ है—हमारा पायलट है, हमारा बॉडीगार्ड है, सतत हमें संरक्षण दे रहा है। भगवान् तो सतत हमारी परीक्षा लेता रहता है। हम उन कष्टों-विपत्तियों को विधि का न टलने वाला विधान मानकर रो-रोकर भोगते हैं, जबकि वे तप करने के क्षण होते हैं। क्या ही सुंदर हो, जो हमारा नजरिया बदल जाए!

हमारी माँ—शुभेच्छु हैं गीता जी

गीता जी हमारी माँ हैं। हमें पग-पग पर मार्गदर्शन करने वाली हमारी शुभेच्छु निकटस्थ संबंधी हैं। यदि हम इन संकेतों को समझ लें, तो मायाजाल के भवसागर से पार हो जाना संभव है। हम फिर सच्चे लाभ वाला आध्यात्मिकता का सौदा करेंगे। छलावे में भी नहीं पड़ेंगे।

युगगीता

83

मात्र हमारे अहं की तुष्टि रखने वाले धार्मिक दिखावों में नहीं उलझेंगे, हम फिर अध्यात्म की धुरी पर जीवन की नाव खेने का प्रयास करेंगे। माँ गोद में लेती है, दुग्धामृत पिलाती है एवं हमारे परिपक्व होने तक हमारी हर गतिविधि पर निगाह रखती है। 'एक आँख सुधार की, एक दुलार की' रखती है। गीता माता भी (विनोबा इसे गीताई, मराठी में माँ कहते थे) ऐसी ही हैं। वे भी हमें गोदी में बिठाकर हमें जीवन जीना सिखा रही हैं। अभी हम पके कहाँ? छोटे-छोटे उतार-चढ़ावों में तो आपा खो बैठते हैं। अपनों से ही लड़ बैठते हैं, एक इंच जमीन के लिए खून-खराबे पर उतर आते हैं एवं थोड़ा भी दुःख का, कष्ट का सामना नहीं करना जानते। हमारे अपने कर्मों की ही परिणति है हमारा भाग्य—हमारा आने वाला कल। हम दुनिया भर को दोष देते हैं, पर कभी स्वयं को नहीं कोसते। हमारा अपना मन ही हमारा मित्र है, हमारा शत्रु है। (इसी छठे अध्याय का पाँचवाँ श्लोक), पर हम यह जानते हुए भी अपने शत्रु मन की बात सुनते हैं, मित्र मन की नहीं। जीवन जीने की कला का मार्गदर्शन देती है गीता। कष्टों से कैसे निपटें? प्रतिकूलताओं से मोरचा कैसे लें? अवरोध क्यों आते हैं व उनसे कैसे निपटा जाए, यह सच्चा मार्गदर्शन-सच्चा लाभ प्राप्त करने का उपाय श्री गीता जी हमें जताती हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण की अमृतवाणी हमें पग-पग पर चलना सिखाती है।

न उकताएँ, न अधीर हों

श्री भगवान् आगे तेईसवें श्लोक में कहते हैं कि ऐसी अवस्था (जिसमें भारी-से-भारी दुःख से भी हम विचलित नहीं होते) ही सच्चा योग है और यह योग उसी के द्वारा सध पाता है, जो उकताता नहीं, अधीर नहीं होता तथा सदैव विधेयात्मक चिंतन के साथ, उत्साहयुक्त चित्त के साथ, मनोयोगपूर्वक अपने कार्य में लगा रहता है। वे कहते हैं

‘योगं योक्तवः’ योग धैर्यपूर्वक योगयुक्त होकर दैनंदिन जीवन में संपादित किया जाना चाहिए। कठिनाइयों या असफलताओं के कारण जो उत्साहहीनता आ सकती है, उसके अधीन हुए बिना इस योग को तब तक किए जाना चाहिए, जब तक मुक्ति न मिले, ब्रह्म-निर्वाण का आनंद हमेशा के लिए मिल न जाए।

निराशा की तरंगों से जरा भी क्षुब्ध हुए बिना ध्यान किया जाना चाहिए, अपने दैनंदिन जीवन के कर्म संपादित किए जाते रहना चाहिए। इस श्लोक में (तंविद्याद् दुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेत सा) जो एक विशेष बात है, वह है ध्यानयोग की विशिष्ट रूप से व्याख्या, दुःख के संयोग के वियोग की अवस्था के रूप में व्याख्या। मानव का स्वभाव अभाव, अज्ञान एवं अशक्ति के कारण सदैव दुखी बने रहने का है। हम स्वयं को शरीर, मन, बुद्धि की उपाधियों द्वारा बहिरंग में जताने की कोशिश करते रहते हैं। इसी कारण हम दुखी बने रहते हैं। सांसारिक विषयप्रधान सुख तो क्षणिक हैं, थोड़ी देर के लिए हैं व उनका अंत दुःख में ही होना है। जब तक हम इन भौतिक चीजों से अलिप्त होकर अंतरंग में प्रवेश नहीं करेंगे, योगस्थ नहीं हो पाएँगे, सदैव मन कष्टमय बना रहेगा, साधनों की बहुलता के बीच भी। ज्यों ही हमने अपने आप को इन तीनों से अलग किया, हमारे दुःखों का भी अंत हो गया, यह मानना चाहिए। सुख-दुःख हमारी मनःस्थिति की ही भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। योग हमें मन को ढालना सिखाता है; ताकि हम शरीर, मन, बुद्धि के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली चेतना से पृथक् हो सकें। योगाभ्यास (योगसेवा) या जीवन को योगमय बनाने की प्रक्रिया वस्तुतः दुःखों से मुक्ति का राजमार्ग हमें दिखाती है; हमें आनंदमय संतोषमय जीवन जीना सिखाती है।

सहोऽसि सहो मयि देहि

दुःख के संयोगरूपी योग को समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि चाहे कितना ही निराशा का भाव आए, कितनी ही प्रतीक्षा करनी पड़े,

हमें अधीर नहीं होना चाहिए। अध्यात्म जगत् में फल की प्रतीक्षा करते हुए धैर्य रखना पड़ता है। यह भी एक प्रकार का तप है। जहाँ हमारे ऋषिगण 'मन्यु' अनीति के प्रति आक्रोश, प्रखर संघर्ष की भावना की प्रार्थना करते हैं, वहाँ वे यह भी अगली ही ऋचा में कह जाते हैं— 'सहोऽसि सहो मयि देहि' हे प्रभु! मुझे अनंत सीमा तक धीरज रखने की क्षमता दो, मुझे सहनशक्ति दो।

आज के मनुष्य के पास इसी का अभाव है। तनाव जो आज की 'जीवन शैली में डिसऑर्डर' के रूप में सामने आ रहा है, का सबसे बड़ा कारण एवं लक्षण भी है अधीरता। थोड़े से पुरुषार्थ से कम समय में अनंत पाने की कामना। प्रभु में विश्वास, उनके न्याय एवं अपने अध्यवसाय में अनंत सीमा तक आस्था हमें सफलता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाकर ही रहती है। सफल वही होता है, जो धीर-गंभीर हो, साहस का धनी हो, सदैव प्रसन्न रहता हो। चूँकि वह परमात्मा में स्थित है, उसे उस आनंद की अवस्था में दुःखों में भी विचलित न होने, धैर्य बनाए रखने की शक्ति उस शक्ति के अनंत स्रोत से मिलती रहती है। यही सबसे बड़ी निधि है। किसी भी योग में प्रवृत्त हुए दिव्यकर्मी को इसी स्थिति में पहुँचने की अभीप्सा रखनी चाहिए; क्योंकि योग की परमावस्था तक ले जाने हेतु यही सच्चा राजमार्ग है।



बार-बार मन को परमात्मा में ही निरुद्ध किया जाए

ध्यान संबंधी स्पष्टीकरण

अब आगामी २४, २५ एवं २६ श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण उन सभी साधकों के लिए अपना उद्बोधन देते हैं, जो अभी किन्हीं कारणोंवश ध्यान के इस जटिल विषय के मर्म को समझ नहीं पाए हैं । जिनका बौद्धिक स्तर अधिक नहीं है और अभी उनकी कही व्यावहारिक बातों को योगेश्वर की आलंकारिक भाषा के माध्यम से पूरी तरह आत्मसात् नहीं कर पाए हैं, कुछ और स्पष्टीकरण माँगते हैं । यह अध्याय बड़ा ही विलक्षण है एवं कदम-कदम पर व्यक्ति को दैनंदिन जीवन के झंझावातों से ऊपर उठाकर तनावमुक्त जीवन जीने का एवं ध्यान द्वारा परमात्मा से साक्षात्कार संबंधी मार्गदर्शन देता है । यही नहीं उन्हें मानसिक संतोष एवं आध्यात्मिक स्तर पर उच्चतम उपलब्धि परम शांति का लाभ भी मिलता है । चित्त की चंचलता से उबरने एवं कामनाओं, वासनाओं से उबरने हेतु अब श्रीकृष्ण का हर साधक के लिए मार्गदर्शन बड़ा विशिष्ट है ।

सङ्कल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ -६/२४

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किञ्चिदपि चिंतयेत् ॥ -६/२५

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् । -६/२६

शब्दार्थ-पहले प्रथम दो का शब्दार्थ देखते हैं- संकल्प से उत्पन्न (संकल्प प्रभवान्), समस्त (सर्वान्) आकांक्षाओं को (कामान्),

पूर्णतया (अशेषतः), छोड़कर (त्यक्त्वा), मन की सहायता से ही (मनसा एव), सभी इंद्रियों को (इंद्रिय ग्रामम्), चारों ओर से (समंततः), संयत करके भली-भाँति टोककर (विनियम्य), धैर्ययुक्त (धृतिगृहीतया), बुद्धि के द्वारा (बुद्ध्या), धीरे-धीरे क्रम से (शनैः शनैः), विरति का अभ्यास करें (उपरमेत्), एवं इस प्रकार मन को (मनः), संकल्प-विकल्प छोड़कर आत्मस्थ परमात्मा में स्थित (आत्मसंस्थम्), करके (कृत्वा), और कुछ भी (किञ्चित् अपि), न चिंता करे (न चिंतयेत्), अर्थात् मात्र परमात्मा का ही चिंतन करें ।

-६/२४, ६/२५

भावार्थ- अब इन दो श्लोकों का भावार्थ समझें-संकल्प से उत्पन्न सभी कामनाओं का सभी रूप में त्याग करके और मन के द्वारा इंद्रियों के संपूर्ण समूह का भलीभाँति नियमन करके (साधक) धैर्ययुक्त बुद्धि के साथ मन को परमात्मा में स्थित करके शनैः शनैः उपरति को प्राप्त हो, तत्पश्चात् वह परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिंतन न करे ।

-६/२४, ६/२५

शब्दार्थ- अब २६वें श्लोक का शब्दार्थ व भावार्थ देखें ।

चञ्चल (चञ्चलम्), अस्थिर-ध्येय में स्थिर न रहने वाला (अस्थिरम्), मन (मनः), जहाँ-जहाँ, जिस-जिस विषय में (यतः यतः), भटकता है (निश्चरति), उस-उस विषयों से (ततः ततः), इस अस्थिर मन को बार-बार (एतत्), संयत करके (नियम्य), परमात्मा में ही बार-बार (आत्मनि एव), निरुद्ध कर स्थिर करें (वशं नयेत्) ।- ६/२६

भावार्थ- स्वभावतः स्थिर न रहने वाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में भटकता है, उस विषय से उसे वापस लाकर बार-बार परमात्मा में ही उसका नियोजन करना चाहिए ।

कामनाओं से मुक्ति प्रथम शर्त

एक प्रकार से योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ अपने शिष्य अर्जुन को ध्यान करने की कला सिखा रहे हैं, उसकी सूक्ष्मतम विधि बता रहे हैं

। ध्यान करने हेतु तैयार किसी भी दिव्यकर्मी योगी को अपने भीतर के मन को, अपने आप को व्यवस्थित बनाना होगा । क्रम से वे उन कदमों को समझाते हैं । हमारा मन कामनाओं की क्रीड़ा में रुचि लेता है । कमशः यही हमारे संकल्प बन जाते हैं । हमारी जन्म-जन्मांतरों की संचित स्मृतियाँ हमसे कल्पनाओं का जाल बुनवाती हैं तथा उनमें लीन बने रहना ही हमें सुखकारी लगता है । ये हमारी कामनाएँ, आकांक्षाएँ हमारे ध्यान में परमात्मा प्राप्ति रूपी लक्ष्य की ओर प्रगति में बाधक हैं । श्रीकृष्ण का स्पष्ट मत है कि इन संकल्प जनित कामनाओं को हमें पूर्णतया त्याग देना चाहिए । इतना होने पर ही हमारा मन इस योग्य बन सकेगा कि हम ध्यानस्थ हो सकें ।

सही योगी या जीवन-कला का चितेरा वही है, जो मन की उधेड़बुन की आदत को समझ ले और उसे नियंत्रित करना सीख ले । स्वप्न हमें अधिकांश निरर्थक आते हैं और कई बार वे ऐसी-ऐसी कल्पनाओं के जन्मदाता बन जाते हैं कि हमारा मन भटकता ही रहता है । जैसे ही हम मन को उसकी भटकन से मुक्त करना सीख लेते हैं, नई-नई आकांक्षाएँ, बेकार की कामनाएँ-इच्छाएँ उत्पन्न नहीं हो पातीं । कामनाएँ, महत्वाकांक्षाएँ यथार्थ के धरातल से दूर चलने वाली इच्छाएँ हमारे लिए बैरी के समान हैं । ये हमें विषय जगत में धकेल देती हैं, जहाँ मन सतत विषय पदार्थों को येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करने, उनका उपभोग करने और मजा लूटने में ही सदा लगा रहता है । वहीं तल्लीन होने में उसकी रुचि होती है ।

मन द्वारा विषयों को संयत करें

मन ही हमारा मित्र है, मन ही हमारा शत्रु है, जैसा कि भगवान् पूर्व में कह चुके हैं । यह मन बड़ा ताकतवर है, बड़ा चञ्चल भी है एवं वश में आ जाए, तो हमारा अपना एक अतिसशक्त व प्रिय सहायक भी

है । यदि कामनाएँ इसे न भटकाएँ, तो भी इंद्रियाँ बलपूर्वक विषय संसार को सम्मोहित कर देने वाले आकर्षणों के माध्यम से इसे घसीट ले जाने का प्रयास करती हैं । ऐसे में श्रीकृष्ण इसी चौबीसवें श्लोक के उत्तरार्द्ध में संकेत करते हैं कि मन द्वारा ही (मनस् एव) सभी इंद्रियों को (इंद्रिय ग्रामम्) चारों ओर से आस-पास के विषयों से (समंततः) कैसे पूर्णतया संयत करना है (विनियम्य) । मन की शक्ति से ही उसे इंद्रिय विषयों की ओर भागने से बचाना है, पूरी तरह उन पर एक सुव्यवस्थित नियंत्रण स्थापित करना है ।

भगवान् यहाँ दो व्यवस्थाएँ देते हैं -

(१) मन की कल्पनाओं अथवा उनके संकल्प-विकल्प को साधक नियंत्रित करे, ताकि उनसे उत्पन्न कामनाओं का क्षय किया जा सके तथा-

(२) मन द्वारा अपने इंद्रिय समूह को विषयों में भटकने से रोका जाए । ये दोनों ही तरीके अपनाकर किसी भी योगपथ के पथिक, जीवन संग्राम में जूझ रहे एक सामान्य व्यक्ति अथवा झंझावातों, द्वंद्वों में जीने वाले रुग्ण मानसिकता वाले के लिए अत्यंत अनिवार्य है ।

अधीर नहीं धैर्ययुक्त बुद्धि

अभी भगवान् की बात समाप्त नहीं हुई है । वे इसे पच्चीसवें श्लोक में भी जारी रखते हैं, कहते हैं-“अधीर बुद्धि के साथ नहीं, धैर्यपूर्वक बुद्धि को स्थिर करके मन को एकाग्र करो ।” (बुद्ध्या धृतिगृहीतया) अधीर बुद्धि हमें विक्षुब्ध बनाती है, अत्यंत अशांत बनाती है एवं गीताकार स्वयं पहले कह चुके हैं-‘अशांतस्य कुतो सुखम् ।’ अशांत व्यक्ति सुखी कैसे रह सकेगा । हमारी मन की सारी समस्याएँ धैर्य चुक जाने, आतुरता, जल्दबाजी बढ़ जाने की वजह से हैं । जिसे अध्यात्म-पथ पर चलना है, उसे धैर्य-सहनशक्ति विकसित

करना अत्यधिक जरूरी है । भगवान् पहले भी उसी अध्याय में तेईसवें श्लोक में कह चुके हैं, बिना ऊबे हुए चित्त से धैर्यपूर्वक योग किया जाना चाहिए । (अनिर्विण्ण चेतसा योक्तव्यः) “सहोऽसि सहोमयि देहि” के माध्यम से उपरिषदकार भी यही कहता है । आज के सारे तनाव जन्में ही जल्दबाजी के कारण हैं । यह भी कहा जा सकता है कि तनाव नियंत्रण में न होने के कारण जल्दबाजी रूपी दुर्गुण मनुष्य को घुन की तरह लग गया है । फिर ये कभी समाप्त न होने वाला अंतहीन चक्र चल पड़ता है एवं मनुष्य अंततः कई रोगों का शिकार हो जाता है ।

आंतरिक संतुलन व शांति का राजमार्ग

भगवान् इस प्रकार जोर देते हुए पुनः कह उठते हैं-धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को आत्मा में परमात्मा से केंद्रित करने का प्रयास करना चाहिए । (आत्मसंस्थं मनःकृत्वा) जब ध्यान योगी क्रमशः प्रयासपूर्वक (शनैः शनैः) अपनी बुद्धि को धैर्यपूर्वक स्थिर रखना सीख लेता है और अपना मन परमात्मा में, उनके ध्यान में केंद्रित कर देता है, तो स्वतः उसकी आंतरिक शांति बढ़ने लगती है । अंदर से वह राग बजने लगता है, जो मन व आत्मा की उपरामता का द्योतक है । एक प्रकार से इनर इक्वीलिव्रियम (आंतरिक संतुलन) स्थापित होने लगता है एवं शांति में वह स्थित होने लगता है । यही तो ध्यान का परम लक्ष्य है । एक और बात भगवान् कह देते हैं-“न किञ्चिदपि चिंतयेत्” और किसी विषय वस्तु का फिर चिंतन न करे । मात्र परमात्मा का, उनकी लीला का, उनके गुणों का ध्यान ही मन में हो । मन फिर भौतिक उपादानों की ओर, सुख-सुविधा के साधनों की ओर न भागे । हृदय शांति से भर गया तो फिर अपनी ओर से कोई विचार रूपी पत्थर फेंककर इस शांतझील में, अंतःकरण में कोई व्यतिक्रम न पैदा करें । फिर तो मन को उस आंतरिक शांति में रमण करने देना चाहिए । ज्यों

ही ध्यान की इस अवस्था में कुछ नया सोचना या विचार शृंखला बनाना आरंभ किया, तो व्यक्ति बहिर्मुखी होने लगेगा । फिर वह ध्यान में लगेगा नहीं; एक बार भी मन को छूट मिल गई, तो वह बार-बार विषयों, संस्पर्शों, कामनाओं के अपने सुपरिचित जगत् में विचरण हेतु भाग खड़ा होने की तैयारी करने लगेगा । सतत भागता ही रहेगा ।

उत्कृष्टता के प्रति सघन श्रद्धा

परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं—“ध्यान से तात्पर्य यही है—निकृष्टता के लोभ, मोह और अहंता के जाल-जंजाल में जकड़े हुए मन को इन विडंबनाओं में भटकते रहने की आदत छुड़वाना तथा निर्धारित लक्ष्य इष्टदेव के साथ तादात्म्य होने का अभ्यास करना । इसमें मन को बिखराव की बालबुद्धि छोड़ने इष्टदेव से लेकर दिनचर्या के प्रत्येक क्रिया-कृत्य में तादात्म्य होने का अभ्यास करना भी है । न तो पूजा उपचार में बिखराव रहे और न दैनिक कृत्य बेगार भुगतने की तरह आधे-अधूरे मन से किया जाए । क्रिया के साथ मनोयोग को घनिष्ठ कर लेने की सफलता बहुत बड़ी उपलब्धि है । किसी देवता का ध्यान करते रहना और इसी की छवि में मन रमाए रहना मनोनिग्रह का एक स्वरूप तो है, पर इतने भर से अभीष्ट सफलता नहीं समझी जानी चाहिए । ऐसी एकाग्रता तो नट, बाजीगर, मुनीम, कलाकार, वैज्ञानिक भी अपने स्वभाव का अंग बना लेते हैं । लक्ष्य यह होना चाहिए कि सर्वतोमुखी उत्कृष्टता के प्रति सघन श्रद्धा उत्पन्न की जाए, उसके माहात्म्यों का भाव-भरा चिंतन किया जाए और अपनी समूची चेतना को इसी में सराबोर होने दिया जाए । उत्कृष्टता की गरिमा पर श्रद्धा केंद्रित करने को ‘चिंतन’ और उसे आज की स्थिति में क्रियान्वित करने की आकांक्षा को उभारना, योजना बनाना ‘मनन’ कहलाता है ।”

— पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय क्र. २२ पृष्ठ १.१२९

इन दो श्लोकों से जो तात्पर्य गीताकार का है, इसी का मानो सार-संक्षेप पूज्यवर ने प्रस्तुत कर दिया है । किसी भी विषयवस्तु का चिंतन न कर मात्र परमात्मा का चिंतन करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। परमात्मा को आदर्शों के समुच्चय के रूप में श्रेष्ठता, सत्प्रवृत्तियों, सद्गुणों के समूह के रूप में पूज्यवर ने परिभाषित किया है । योगेश्वर साधक को इसी परमात्मा में स्थित होने, धैर्यपूर्वक शनैः शनैः अभ्यास द्वारा मन को उन्हीं में लीन होने तत्सम-तद्रूप होने का शिक्षण देने के रूप में बता रहे हैं ।

समाधि योग का अभ्यास

स्वामी अपूर्वानंद (श्री रामकृष्ण शिवानंद आश्रम बारासात प. बंगाल) लिखते हैं कि २४वाँ व २५वाँ श्लोक विशेष रूप से समाधि योग के अभ्यास की प्रक्रिया समझाने के लिए श्रीकृष्ण ने कहा है । चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध ही योग है । योगशास्त्र में चित्त की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । प्रथम चार अवस्थाओं से क्रमशः मुक्तकर चित्त को निरुद्ध करने का कौशल ही राजयोग या अष्टांग योग है । इसी के आठ अंगों में ध्यान व समाधि की चर्चा पतञ्जलि ने की है । ज श्री रामकृष्ण इस संबंध में कहते हैं कि हठयोग से, राजयोग की ओर जाने की बजाए उपर्युक्त प्राणायाम से मन का निरोध करके ईश्वर से भक्तियुक्त होकर ध्यान करने से मन और वायु दोनों स्वतः ही निरुद्ध हो जाते हैं । ईश्वर का नाम लेते-लेते साधक समाधि अवस्था में पहुँच जाता है ।

मन ध्यान की अवस्था से हटने न पाए । पुनः विषय जगत् में भटकने की विडम्बना से बचे, इसके लिए भगवान् कृष्ण और भी स्पष्ट व मुखर शब्दों में घोषणा करने लगते हैं—“जिस किसी कारण से चञ्चल

और अस्थिर मन इधर-उधर भटके, वहाँ से उसे वापस लाकर आत्मा में, परमात्म-सत्ता में उसका निरोध नियोजन करना चाहिए । यह बात उनने २६वें श्लोक में कही है ।''

मन को बारंबार समझाओ

मन का भटकना स्वाभाविक है । हर किसी का मन इधर-उधर भटकता ही है । विचार जिसमें सतत प्रवाहित हो रहे हैं, वह मन ही तो है । अतः जब कभी मन विषयों की ओर, कामवासनाओं की ओर, सुख-साधनों की ओर, पद-उपाधि की ओर भागे, उसे समझा-बुझाकर वापस परमात्मा के चिंतन की ओर ही लाओ, यही परमात्मारूपी साक्षात् ईश्वरीयसत्ता श्रीकृष्ण की कह रही है । अर्जुन के माध्यम से हम सभी को संबोधित कर रही है । यह क्रम बार-बार चलेगा । अभ्यास कड़ा करना होगा । जब भी मन फिसलेगा, ध्यानकर्त्ता योगी भी उस प्रवाह में बह जाएगा, अतः जरूरी यह है कि बार-बार आत्मावलोकन कर कड़ा आत्म-निरीक्षण कर उसे वापस लक्ष्य की ओर, ध्येय की ओर लाना होगा । हम सभी को अपनी मन की उछल-कूद का साक्षी बनना चाहिए । हमारे सहयोग बिना यह कहीं भी भाग नहीं सकता । सध जाने पर यही मन दीर्घकाल तक ध्यान करने में एवं परमात्मा में स्थित होने पर मिलने वाली शांति दिलवाने में मदद करेगा ।

रोकिए मन को, लगाइए परमात्मा में

प्रस्तुत श्लोक अत्यधिक महत्वपूर्ण है, हर ध्यान-योग का अभ्यास आरंभ करने वाले के लिए एक युवा मन के लिए, एक परिश्रम कर रहे विद्यार्थी के लिए, एकाग्र मन से अनुसंधान कर रहे एक वैज्ञानिक के तथा एक तनावग्रस्त व्यक्ति में हमें स्वयं कारण ढूँढ़ना होगा । हमारा मन कहाँ-कहाँ, कब-कब भटकता है । उस ओर से उसे

रोककर बारंबार उस मन को परमात्मा में ही हमें निरुद्ध करना चाहिए। यही वह प्रक्रिया है, जो किसी को भी जीवन-संग्राम में सफल बना सकती है। हम आदर्शों को ही पूजें, उन्हीं का सतत चिंतन करते रहें। अपना मन और कहीं न जाने दें। परिणाम शुभ होगा एवं हमारा मन परमात्म-सत्ता में लक्ष्य-ध्येय में लगने लगेगा। हम तनावमुक्त शांत जीवन जी सकेंगे और जीवन के हर आयाम में सतत् सफलता प्राप्त करेंगे। यही तो हम सब का लक्ष्य है।



चित्तवृत्ति निरोध एवं परमानन्द प्राप्ति का राजमार्ग

पिछले क्रम में हमने ध्यान संबंधी जन सामान्य हेतु दिया गया स्पष्टीकरण पढ़ा जो योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को छठे अध्याय के २४, २५ एवं २६ वें श्लोक के माध्यम से दिया गया। तनावमुक्त जीवन कैसे जिया जाय एवं ध्यान द्वारा परमात्मा से साक्षात्कार का तरीका क्या है, इसका स्पष्ट निर्देश इन श्लोकों में दिया गया है। वे कहते हैं कि अपनी सभी कामनाओं का सभी रूप में त्याग करके और मन द्वारा इंद्रिय समूह का नियमन कर धीरजयुक्त बुद्धि के साथ साधक को मन को परमात्मा में स्थित करना चाहिए। परमात्मा के अलावा और कुछ भी नहीं सोचना चाहिए। फिर वे यह मानते हुए कि चित्त अति चंचल है-स्वभावतः स्थिर है, उसे उन उन सभी विषयों से जिन पर वह भटकता रहता है, वापस लाकर बार-बार उसका परमात्मा में ही नियोजन करना चाहिए। जब-जब मन चित्त भटके तब-तब साधक को एक पूरा जोर लगाकर प्रयास करना चाहिए कि वह आदर्शों-सत्प्रवृत्तियों-सद्गुणों के समुच्चय रूप में परमात्मा में ही उसे लगाये। ध्यान करने की कला प्रकारान्तर से श्रीकृष्ण इन श्लोकों के माध्यम से सिखा रहे हैं। संकल्प जनित कामनाओं से हम मुक्ति पालें क्योंकि ये ही ध्यान में बाधक बनती हैं। सबसे बड़ी बात जो सुयोग्य शिक्षक के रूप में श्रीकृष्ण बताते हैं, वह है धैर्यपूर्वक अभ्यास करना (बुद्धया धृति गृहीतया)। तनाव जल्दबाजी के कारण ही पैदा होता है अतः धैर्य का शिक्षण सभी के लिए अनिवार्य है। परम पूज्य गुरुदेव के चिंतन से ही ध्यान की क्रिया की व्याख्या की गई है। चित्तवृत्तियों का निरोध कैसे करें, स्वामी अपूर्वानन्द जी के माध्यम से बताया गया था। योगेश्वर २६ वें श्लोक में फिर कहते हैं कि जिस भी किसी कारण से चंचल-अस्थिर मन भटके वहाँ वहाँ से उसे वापस लाकर आत्मा में-परमात्मसत्ता में

उसका नियोजन करना चाहिए। यह कुंजी है ध्यान की-मन को चंचलता के बिखराव-भटकाव से रोकने की। अब इसी व्याख्या के विस्तार के साथ आगे बढ़ें:-

मनोनिग्रह ही है कुंजी

यह एक सतत चलने वाला अभ्यास है, जिसकी ओर श्रीकृष्ण २६ वें श्लोक में संकेत कर रहे हैं। वे कहते हैं मन हमारे सहयोग के कारण ही भागता है। हम उसे तनिक भी सहयोग न दें और मन को साधें। उन सब विषयों से, जहाँ मन बार बार भटकता है, उसे बार-बार हटाकर आदर्शों के समुच्चय परमात्मसत्ता में ही निरुद्ध किया जाना चाहिए, यह एक स्पष्ट निर्देश योग के इस परम शिक्षक का है। यदि यह क्रिया अभ्यास में आ गयी तो लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन के हर पक्ष में हमें एकाग्रता-तन्मयता-जाग्रति भाव में जीने का अभ्यास आ जायेगा।

यह शिकायत प्रायः सभी की है कि उनका मन नहीं लगता। बार-बार भागता है। सफलता चाहे वह भौतिक क्षेत्र की हो, आध्यात्मिक जगत की, इसी पर टिकी है कि मनोयोग से कार्य हुआ कि नहीं। भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत में कौन शिखर पर पहुँचा-इसकी कभी जानकारी लेनी हो तो एक तथ्य समान रूप से सामने आता है-इन दोनों ने ही मन को पूरी तरह अपने ध्येय के साथ एकाकार किया। मनोनिग्रह होते ही मानों सफलता की बागडोर अपने हाथ में आ जाती है। इसके लिए प्रयास यही करना होगा कि जिस भी विषय-सांसारिक वस्तु-इन्द्रियों आदि की ओर मन भटकता है, वहाँ से उसे घसीटकर बारम्बार हम परमात्म सत्ता में ही नियोजित करें। परमात्मा को तो हमने देखा नहीं, पर उसे पहचानें कैसे? परमात्मा आदर्शों का-श्रेष्ठताओं का-सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय है। हम श्रेष्ठ चिंतन में स्वयं को तन्मय कर दें। अपना लक्ष्य श्रेष्ठतम आदर्शों के रूप में-महामानवों के जीवन प्रसंगों को

ध्यान में लाकर निर्धारित करें एवं उस पर ही टिके रहने का अभ्यास करें। यह क्रमशः अभ्यास से ही संभव हो पायेगा। इसमें समय लग सकता है पर हमें धैर्य पूर्वक काम लेना होगा। “ततः ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत” के माध्यम से भगवान अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को यही समझा रहे हैं।

ध्यान योग का लक्ष्य

अर्जुन को एकाग्रता का अभ्यास है। वह एक “डिमांस्ट्रेशन” मछली की आँखों का तीर द्वारा उसकी तेल में आकृति देखकर निशाना लगाकर दे चुका है। द्रौपदी का वरण उसने इसी प्रकार किया था। पर यहाँ युद्धभूमि में वह हम सभी का प्रतिनिधित्व कर रहा है उसका मन आसक्तिवश-मोहवश-द्वन्द्वों में उलझकर चंचल हो गया है। वह एकाग्रता से तन्मयता-तल्लीनता-तद्रूपता-विलीन होने की यात्रा नहीं कर पा रहा है। ध्यान का मर्म बताकर श्रीकृष्ण उसका ही नहीं, मानव जाति का शिक्षण कर रहे हैं। ध्यान का लक्ष्य ही है एकाग्रता-निरुद्धता-स्थिरता-तन्मयता-भावचेतना ऊर्ध्वगमन। यह क्रमशः अभ्यास से ही संभव है।

मन को विषयों में भटकने की अनुमति दे देना एक प्रकार से सर्वनाश का द्वार खोलना है। मन की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं, मात्र इन्द्रियज्ञान उसका लक्ष्य है। अतः ध्यान की प्रक्रिया में मन का फिसलना एवं बार-बार विषय जगत में उसका भटकना स्वाभाविक है। जैसे जल का गुण प्रवाहित होना है, उसी तरह विचारों का सतत अविरल प्रवाह ही मन का भी धर्म है। इसीलिए भगवान कहते हैं, जब भी कभी ऐसा हो कि मन विषय जगत में भटके तो उसे समझा बुझाकर अपनी आत्मसत्ता के चिंतन में ही नियोजित करने का साधक प्रयास करे। जब जब मन फिसलता है-एक प्रकार से सम्मोहन में फँसा व्यक्ति जो ध्यान करने बैठा है, मन पर सवारी कर उसके साथ ही बहने लगता है। यह हम रोजमर्रा के जीवन में देखते हैं। यदि अभ्यास उलट दिया जाय, जब

मन भागने की कोशिश करे, उसे पकड़कर हम परमात्म सत्ता के चरणों में लाकर पटक दें-आदर्शों से भरे विचारों में हम उसे लीन कर दें, सतत उत्कृष्ट चिंतन ही करें तो इस अभ्यास द्वारा मन पर लगाम कसने का पुरुषार्थ संपन्न हो सकता है। मन हमारे सहयोग के बिना उछलकूद करने की कभी हिमाकत नहीं कर सकता। हम इस उछलकूद के साक्षी बनें और उसे साधें। इससे दीर्घकालिक ध्यान सधेगा-परमात्मा में मन लगेगा और चिरस्थायी आत्मिक शान्तिरूपी वरदान हस्तगत होगा। सधा हुआ मन हमें उच्चस्तरीय उपलब्धियों के लिए सतत उपलब्ध रहेगा। ध्यान की प्रक्रिया जो इस २६ वें श्लोक में समझाई गई है, हमारे व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर देती है- हम सुसंगठित हो जाते हैं और यह उपलब्धि बहुत बड़ी है। इसके लिए हमें मन को काबू में करने का जो प्रयास करना पड़ा-उसका पुरुषार्थ परिणाम की तुलना में नगण्य ही है।

पतंजलि द्वारा समाधान

पच्चीसवाँ श्लोक एवं छब्बीसवाँ श्लोक ध्यान योग ही नहीं, अध्यात्म पथ के हर पथिक के लिए मार्गदर्शक है। योगेश्वर यहाँ प्रकारान्तर से बता जाते हैं कि साधना क्षेत्र में विघ्न अवश्य आयेंगे। इनसे मन चंचल होगा। परमात्मा में मन नहीं लग पायेगा एवं अध्यात्म में गति हो नहीं पाएगी। पतंजलि मन की चंचलता के पाँच कारण बताते हैं- एक है प्रमाण, दूसरा विपर्यय, तीसरा विकल्प, चौथा-स्मृति एवं पाँचवा-निद्रा। प्रमाण का मतलब है इन्द्रिय जन्य भोग विलास जो हमारे सामने प्रत्यक्ष उपस्थित रहता है। मीठा खाने से-विषयों को ग्रहण करने से इन्द्रियों को तृप्ति मिलती है। मदिरा पीने से हमें उन्माद आता है हम होश खो बैठते हैं। यह जो आकर्षण है, वह प्रमाण के रूप में हमारी योगयात्रा में बाधक है।

दूसरा है विपर्यय। भ्रम, संदेह को ही विपर्यय कहते हैं। असमंजस की स्थिति में चित्त का होना भी हमारी साधना के पथ में एक

विघ्न बन जाता है। कस्तूरी मृग को जैसे संदेह रहता है कि कस्तूरी कहीं और है और वह भटकता ही रहता है, ठीक उसी प्रकार हमें भी संशय बना रहता है कि सुख कहीं और है—साधनों में है—भोगों में है। तीसरा है विकल्प यानी मन के भटकने की आदत। चंचल चित्त इधर-उधर भटकता ही रहता है। मन की गति बड़ी तीव्र है। कभी इधर-कभी उधर भागता है। पल भर में ही वह न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। चौथा है स्मृति। स्मृति यानी पूर्वजन्मों के संस्कार-आदतें। यही स्मृतियाँ हमें सतत घेरे रहती हैं—हमें परेशान करती रहती हैं। हमें याद तो नहीं आता पूर्व जन्म के विषय में, पर संस्कारों के वशीभूत हमारा चिंतन प्रभावित होता है—हमारे चित्त को उस ओर ठेलता रहता है। गुरु इस स्मृति को दुरुस्त करता है। पूर्व जन्मों के संस्कारों को वह ठीक करने की-मरम्मत करने की कोशिश करता है—कभी कभी हमारे पुरुषार्थ से वह आमूलचूल बदल भी जाता है। गुरु हमारी स्मृति-हम कौन हैं—भटके हुए देवता हैं—स्वयं को पहचानें—यह सतत याद दिलाता रहता है।

पाँचवा कारण जो पतंजलि ने बताया है—वह है निद्रा। निद्रा यानी तमोगुण-प्रमाद। आवश्यक निद्रा लेना तो जरूरी है पर आलस्य-प्रमादवश अकारण आने वाली निद्रा तमोगुण के बाहुल्य की परिचायक है। यह गलत समय पर आती है जब हम साधना कर रहे हैं या स्वाध्याय कर रहे हैं या प्रवचन सुन रहे हैं, तब आकर हमें प्रभावित कर जाती है।

निरुद्धता-परमात्मा में

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही पतंजलि के अनुसार इन समस्याओं से जूझने का तरीका है। मन की वृत्ति को तो शतरंज खेलने वाला-सर्कस का खिलाड़ी-नोट गिनने वाला भी रोक लेता है पर असली योगी वह है जो चित्त की वृत्ति को रोकले—उन उन विषयों से

मन को हटाले जिनके कारण चित्त चंचल होता है-उसकी वृत्तियों में विखराव पैदा होता है एवं उधर से हटाकर परमात्मा में- श्रेष्ठताओं में लगा दें। हम अपना ध्यान अपनी गुरुसत्ता में-सविता देवता में-गायत्री माता में-महाकाल भगवान शिव में-अपने आदर्शों रूपी लक्ष्य में लगा दें। जो भी हमारा इष्ट हो उसमें हम मन की ऊर्जा पूरी तरह लगा दें-परिणाम सामने आएगा-हम परमात्मा में स्थित हो जायेंगे।

परमात्मा के कई स्वरूप हैं-नाम, रूप, गुण, लीला ये चार स्वरूप बताए गए हैं। हम भगवन्नाम का जप भी कर सकते हैं-साथ ही उनके गुणों पर चिन्तन करते हुए उनके स्वरूप का ध्यान भी कर सकते हैं। गायत्री मंत्र बोलते हुए हम मंत्रार्थ का चिंतन कर सकते हैं एवं गायत्री माँ या सविता देवता पर ध्यान स्थिर कर सकते हैं। सूर्य का ध्यान कर उसके “भर्ग” को तेज को अपने अंदर धारण करना इसी में आता है। हम ॐ नमो भगवते वासुदेवाय भी बोल सकते हैं एवं नमः शिवाय भी, साथ ही साथ चिन्तन भी। नाम, रूप के साथ गुणों का चिंतन हमारे मन में एक आदर्श छवि स्थापित कर देता है। बारम्बार ऐसा करने पर क्रमशः वह स्थायी संस्कार बन जाता है। भगवान की लीला को पढ़ना-मनन करना, उसका सतत ध्यान करना भी इसी में आता है। श्रीरामकृष्ण लीलामृत इसीलिए लिखा गया ताकि श्रीरामकृष्ण में लोगों का ध्यान लगे। उनके बारे में सब जानें। श्रीमद्भागवत भगवान की लीला का ही तो वर्णन है। उसका सतत मनन-चिंतन भी हमारी अनुरक्ति भगवान में बढ़ाता है। परम पूज्य गुरुदेव का लीलामृत-“युगदृष्टा का जीवन दर्शन”, “हमारी वसीयत और विरासत”, “चेतना की शिखर यात्रा” (खण्ड १-२) के रूप में हमारे पास है। गुरुसत्ता की लीला को पढ़ना-उसके बारे में सतत चर्चा करना-चिन्तन करना हमें आदर्शों रूपी परमात्म सत्ता में प्रतिष्ठित करता है।

ईश्वर के गुणों व लीला का चिन्तन

ध्यान योग से कितनों ने लाभ पाया-कितनों का मन लग पाया मालूम नहीं, पर श्रीरामचरित मानस ने लाखों लोगों का कल्याण कर दिया। प्रभु श्रीराम की ज़ीवन लीला का सतत चिंतन-मनन करने वाला कभी भटक नहीं सकता। “रामायण” सीरियल जब टेलीविजन पर प्रसारित होता था सड़कों पर सन्नाटा छा जाता था, सभी थोड़ी देर के लिए राममय हो जाते थे। अभी भी रामलीला-कृष्णलीलाओं का प्रचलन गाँवों-कस्बों में है। इनसे परमात्मा में साधक का मन लगता है। सारा प्रयास यही है कि किसी तरह मन की भटकन-चित्त की चंचलता रोकी जाय और उसे कहीं और नहीं, परमात्मा में ही लगाया जाय। षट्कर्म-षोडस पूजन-मंत्रोपचार जो भी कुछ हैं वे परमात्मा की भावमूर्ति गढ़ने के लिए ही हैं। बहिरंग में किए गए कि नहीं-अंतरंग में अपने इष्ट की, मूर्ति गढ़कर-उनकी प्राणप्रतिष्ठा कर पूजन में बैठेंगे-ध्यान करेंगे तो हृदय मंदिर में परमात्मा की स्थापना होती चली जायेगी। भावनाओं का ही खेल है सारा। यदि हमारी भावनायें प्रगाढ़ होगी तो हम अपने मन-बुद्धि-चित्त-अहं को पाटकर शुद्ध अहं में विराजमान परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं जब जब (यतोयतो) मन चंचल व अस्थिर हो-विचरण करने लगे (निश्चरति मनःचंचलम् अस्थिरम्) तब तब (ततः ततो) उसे परमात्मा सत्ता [अपनी शुद्ध अहं की सत्ता में] में लाकर निरुद्ध करें-नियोजित करें-कुविचारों की सेना को परमात्मा रूपी श्रेष्ठ विचारों की सेना को अपने मन में लाकर काटें और उन्हीं में ध्यान लगायें। उपरोक्त पतंजलि के बताए बंधन एवं भक्तियोग की परमात्म सत्ता में मन लगाने की विधि को इसीलिए विस्तार से समझाया गया। यह हरेक की समस्या है। एक विद्यार्थी की भी-एक तकनीशियन की एवं एक कलाकार की। जीवन समर में काम करने वाले हर दिव्यकर्मी-कार्यकर्ता-एक साधारण गृहस्थ की भी।

अगले श्लोक में भगवान बड़ी स्पष्ट भाषा पर उतर आते हैं एवं सीधे हमारी त्रैगुण्यमयी प्रकृति पर प्रहार करते हुए उसमें परिवर्तन करने को कहते हैं।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतम कल्मषम् ॥ ६/२७

पहले उसका शब्दार्थ देखें-

प्रशान्तचित्त (प्रशान्तमनसं) रजोगुण रहित। शान्त रजसम्। निष्पाप (अकल्मषम्) ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त (ब्रह्मस्वरूपम्) इस योगी पुरुष को (एनं योगिनम्) उत्तम (उत्तमम्) सुख-दिव्यानन्द (सुखं) अवश्य ही प्राप्त होता है (उपैति हि)।

भावार्थ है-“जिसका मन भलीप्रकार शान्त है, जिसका रजोगुण दूर हो गया है, सभी प्रकार के पापों से जिसने पल्ला छुड़ा लिया है ऐसे इस सच्चिदानन्द घन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को निश्चित ही परमानन्द की प्राप्ति होती है।”

एक कुशल मार्गदर्शन: पाथेय

योगीराज श्रीकृष्ण एक कुशल शिक्षक हैं-स्वयं योगेश्वर हैं। शिक्षण तकनीक की उनकी जानकारी बड़ी ही विशद है। उन्हें लगता है कि सब कुछ कह दिया पर संभव है कि इतना मार्गदर्शन मिलने के बाद भी साधक को ध्यान रूपी राजमार्ग पर चलने में थोड़ा आत्मविश्वास की कमी महसूस हो। अर्जुन जैसे शंकालु साथ ही साथ जिज्ञासु साधक-योगी को अपनी दुर्बलताएँ भी दिखाई देती हैं। उसे लग सकता है ऐसे उच्चस्तरीय योग के वह नितान्त अयोग्य है। वह जगद्गुरु श्रीकृष्ण की उस शिक्षा को सुन तो रहा है, वह भी रणसंग्राम में पर जो बड़े बड़े परिणामों की चर्चा की गयी है, उसे आश्वासन दिया गया है, वह इसके योग्य है कि नहीं। योगेश्वर-भगवान की क्षमता में उसे अविश्वास नहीं, अपने आपमें उसे कमी नज़र आती है। दिव्यता के

हिमालय शिखर पर चढ़ने पर क्या वह समर्थ है, यह उसके मन में ऊहापोह है, उसे पढ़कर ही भगवान कहते हैं-यदि ध्यान योगी अपने अंदर इन चार शर्तों को पूरा करलें-उनके बताए मार्गदर्शन अनुसार चले तो वह परमानन्द की प्राप्ति करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए।

चार शर्तें: दिव्यानंद के लिए

कौन सी हैं वे चार शर्तें जिन्हें हर ध्यानयोगी को पूरा करना चाहिए ताकि वे परमानन्द की अनुभूति कर सकें। श्रीकृष्ण इसी श्लोक में कहते हैं-

(१) मन को विषयों में भटकने से रोककर उसे शान्त करना।

(प्रशान्त मनसं)

(२) रजोगुण से मुक्ति। क्रमशः सतोगुण की अभिवृद्धि की यात्रा

(शान्तरजसं)

(३) स्वयं को ब्रह्ममय बना लेना-ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाना

(ब्रह्मभूतम्)

(४) वासनाओं से मुक्त पवित्र जीवन जीना (अकल्लषम्)

इतना किया जा सका तो मान लेना चाहिए कि ध्यान योग के मार्ग की सभी बाधाएँ दूर हो गयीं और अब परमानन्द-दिव्यानंद रूपी सुख अवश्य प्राप्त होगा।



ध्यान की पराकाष्ठा पर होती है सर्वोच्च अनुभूति

विगत व्याख्या में इस अध्याय के छब्बीसवें श्लोक की विस्तृत विवेचना एवं सत्ताइसवें श्लोक का अर्थ-शब्दार्थ-एवं भावार्थ बताया गया था। भगवान का स्पष्ट निर्देश है कि हम मन को जब भी वह बार बार भटकता है- वहाँ से उसे हटाकर आदर्शों के समुच्चय परमात्मा में ही नियोजित करें। परमात्मा अर्थात् आदर्शों का समूह। पतंजलि द्वारा मन की चंचलता का स्वरूप-उसके कारण व उसका समाधान भी विगत अंक में बताए गए थे। प्रभु की जीवन लीला में सतत चिंतन-मनन कभी मन को भटकने नहीं देता। इसीलिये प्रयास यही हो कि हम चंचल चित्त को रोकेँ और प्रभु में लगायें। यदि ऐसा हो गया तो ऐसा योगी जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जिसका रजोगुण दूर हो गया है तथा जिसने सभी प्रकार के पापों से पल्ला छुड़ा लिया है-उसे सच्चिदानंदधन परमात्मा के साथ एकीभाव प्राप्त हो परमानंद की उपलब्धि होती है (श्लोक २७)। चार शर्तें भगवान ने रखी हैं। मन को विषयों से भटकने से रोककर उसे शान्त करना, रजोगुण कमकर सतोगुण बढ़ाना, ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति एवं वासनामुक्त पवित्र जीवन जीना। ध्यान योग की चरमावस्था में पहुँचने के लिए इन चार शर्तों का पूरा होना जरूरी है। अब आगे इन्हीं चार की विस्तृत व्याख्या-अगले श्लोकों के साथ।

परमानंद की प्राप्ति

प्रशान्त मनसं, शान्तरजसं, ब्रह्मभूतम् एवं अकल्मषम् में चार स्थितियाँ ऐसी हैं जिन्हें प्राप्त करने के बाद हर ध्यानयोगी परमानन्द को प्राप्त हो सकता है। आखिर यह परमानन्द है क्या जिसकी प्रशस्ति गीताकार ने इतनी अधिक गायी है। आत्मा-परमात्मा के मिलन संयोग

को ही उनने उत्तम आनन्द माना है-परमानन्द कहा है। विषयों से मिलने वाले आनन्द से मनुष्य कभी अघाता नहीं, कभी भी तृप्ति उसे मिलती नहीं, उसकी शक्ति सदैव नष्ट होती रहती है। किंतु योगजन्य इस आनन्द से उसकी शक्ति बढ़ती चली जाती है एवं वह आनन्द की परमावस्था को प्राप्त हो तृप्ति, तुष्टि, शान्ति पाता है। इस आनन्द की प्राप्ति तभी संभव है जब मन चंचल होकर इधर उधर न भटके-शान्त हो, किसी भी पापकर्म में यह योगी उलझता न हो, जिसका रजोगुण शान्त होकर सतोगुण की अभिवृद्धि की मात्रा आरंभ हो गयी हो तथा जिसने स्वयं को ब्रह्ममय बना लिया हो-वह ब्रह्म के स्वरूप को ही प्राप्त हो गया हो।

पूरा आत्म संयम योग बार-बार मन को भटकने से रोककर उसे परमात्मसत्ता में-आदर्शों में निरुद्ध होने की बात करता है। जब तक हम अपना लक्ष्य उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को नहीं बनायेंगे-उसी से एकाकार होने की भावना में मन को नियोजित नहीं कर देते वासनाएँ हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगी। एक बार उस सौन्दर्य का दर्शन हो जाये-उस आनन्द का रसास्वादन हो जाये तो फिर सारे विषय-भोग उसके समक्ष तुच्छ लगने लगेंगे।

श्रीकृष्ण गीता में पहले भी स्थितप्रज्ञ प्रकरण में कह चुके हैं—
 “रसवर्जं रमः अपि अस्य परदृष्ट्वा निवर्तते” (अध्याय २ श्लोक ५९ बी) अर्थात् [जिनके विषय निवृत्त हो चुके हैं उनकी] उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती (रसवर्ज) [परन्तु] परब्रह्म का (परं) साक्षात्कार होने पर (दृष्ट्वा) इस स्थितप्रज्ञ योगी की (अस्य) विषय भोग की आसक्ति (रसः) भी (अपि) निवृत्त हो जाती है (निवर्तते)।

अमृतरस की वह एक बूँद

श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि जिसने अमृत रस की एक बूँद का स्वाद चख लिया उसे रम्भा एवं तिलोत्तमा भी चिता की भस्म

के समान प्रतीत होती है। आसक्ति नष्ट होने के लिए भगवान के साथ अनुराग पैदा करना होगा। एक कथा इस संबंध में समझाने हेतु ठीक रहेगी। यह सत्यकथा है एवं श्री रामानुजाचार्य से जुड़ी है। श्रीरंगम् में प्रत्येक वर्ष एक मेला लगता था। उसमें रामानुज भी अपने शिष्यों के साथ जाते थे। एक दुर्दान्त डाकू जिसका नाम था दुर्दम् वह भी दर्शनों को आता पर उसका उद्देश्य अलग था। वह एक सुन्दर सी महिला, जो वेश्या थी, के पीछे छाता लगाकर चलता। सबका ध्यान तो श्रीरंगम् की छवि की ओर रहता पर उसका ध्यान उस सुन्दर युवती में लगा रहता। थी भी वह अत्यन्त सुन्दर। कोई भी आतंक के कारण उस दस्यु से कुछ कह नहीं पाता था। जब आचार्य रामानुज को यह सब पता चला तो उनने शिष्यों से कहा-उसे बुलाओ। आचार्य की शक्ति से वह भी भयभीत था कि कहीं शाप न दे दें। फिर भी वह आया। आचार्य बोले-हमें बड़ा अचरज है कि सभी भगवान में सौन्दर्य का दर्शन कर रहे हैं और तुम एक महिला में आसक्त हो। दस्यु बोला-यह सुन्दरतम स्त्री है जिसमें मेरी आसक्ति है-मैं उसे चाहता भी हूँ। आचार्य बोले-हम इससे भी सुन्दर कुछ दिखा दें तो तुम इसे छोड़ दोगे क्या? इतना कहकर उसे श्रीरंगम् की छवि के दर्शन हेतु ले गए। मूर्ति में श्रीकृष्ण की अपूर्व सुन्दर झलक देखकर वह भावविह्वल हो गया। आचार्य से बोला-अब तो इन्हीं को प्राप्त करना है। आचार्य बोले साधना तप जो बताया जाएगा करोगे तो ही यह रूप टिकेगा व तुम्हें सतत दीखता रहेगा। उसने स्वीकृति दी। सारा जीवनक्रम बदल दिया। उस स्त्री से आचार्य के निर्देशानुसार शादी कर ली। सारा जीवन उसने सद्गृहस्थ होकर जिया। लोकसेवी के रूप में जीवन जीने लगा। प्रतिदिन आचार्य स्नान करने सेवक-शिष्य के कंधे पर हाथ रखकर जाते। कावेरी से लौटते तो दुर्दम् के कंधे पर हाथ रखकर आते। सभी आश्चर्य करते कि एक शूद्र-डाकू को साथ लेकर आते हैं। आचार्य ने कहा-वह बदल गया है-तुम

उसका दिल देखो-उसमें भगवान बसते हैं। लोगों ने परीक्षा ली-एकडाकू दल लूटने हेतु उसके घर भेजा। पत्नी ने देखा कि डाका डालने दस्युगण आए हैं। दुर्दम बोला-आचार्य के भक्त वैष्णवजन आए हैं। हम सोने का नाटक करते रहें। उसके इन वाक्यों को सुनकर हृदय बदला हुआ देख सभी मान गए कि परमेश्वर के दर्शन से व्यक्ति कितना बदल सकता है।

परमात्मा के दिव्य सौन्दर्य का दर्शन मनुष्य में कितना परिवर्तन ला सकता है, प्रस्तुत दृष्टान्त इसका परिचायक है। इस दर्शन से प्राप्त होने वाले आनन्द को ही दिव्यानन्द कहा गया है।

प्रशान्त मनसं

जब भगवान इस महत्त्वपूर्ण सत्ताइसवें श्लोक में कहते हैं-“प्रशान्तमनसं” तो उनका आशय है-विवेक और वैराग्य के प्रभाव से विषय चिन्तन छोड़कर और चंचलता-विक्षेप से रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और प्रसन्न हो गया है-इसके फलस्वरूप जिसकी परमात्मा के दिव्य सौन्दर्य में अचल स्थिति हो गयी है। ऐसा व्यक्ति “प्रशान्त मनसं” कहलाता है। वह कभी भी अशान्त होकर तनावग्रस्त नहीं होता। उस पर उद्वेगों का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता।

शान्तरजसं ब्रह्मभूतम्

“शान्तरजसं” से आशय है-आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा, सकामकर्म जिनकी रजोगुण से उत्पत्ति होती है (चौदहवें अध्याय का सातवाँ एवं बारहवाँ श्लोक) एवं जो रजोगुण को सतत बढ़ाते हैं, इन सबसे योगी का मुक्त हो जाना। चंचलता रूपी विकार भी रजोगुण का ही परिचायक है। “ब्रह्मभूतम्” से आशय है-योगी देह मात्र नहीं है-सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है, इस भाव का सतत निरन्तर अभ्यास करना। ऐसा करने से साधक उस परमात्मा में स्थित हो जाता है। अभिन्न भाव से सतत ब्रह्म में स्थित पुरुष को ब्रह्मभूत कहते हैं।

“ब्रह्मभूतम्” पद किसी सिद्धि का परिचायक नहीं है। यह एक स्थिति है जिसमें सतत रहने पर तत्त्वज्ञान द्वारा योगी ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

अकल्मषम्

इसी श्लोक में “अकल्मषम्” शब्द आया है। मनुष्य को पतन के गर्त में डालने वाले जो तमोगुण हैं- प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मोह, दुराचार आदि ये सभी कल्मष कहलाते हैं। इन कल्मषों से मुक्ति अर्थात् पाप से सर्वथा रहित। पापकर्म से सदैव के लिए मुक्ति अकल्मषम् का शाब्दिक अर्थ होता है। इस प्रकार यह श्लोक हमें चार शक्तों को पारकर उत्तम सुख की प्राप्ति का उपाय बताता है। ध्यानजनित सात्विक आनन्द ही उत्तम सुख है। इसी को अक्षय आनन्द के रूप में पाँचवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में बताया गया था। इसी पाँचवें अध्याय के चौबीसवें श्लोक में “योऽअन्तःसुखोऽन्तरात्मा” के रूप में भी प्रतिपादित किया गया था।

गीता गहन ज्ञान की एक ऐसी पुस्तिका है जो हमें लौकिक से पारलौकिक आनन्द की ओर ले जाती है, जो हमें सतत सतोगुण की अभिवृद्धि का उपाय बताती है एवं क्रमशः सीढ़ी दर सीढ़ी आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलना सिखाती है। यदि हम अर्जुन के माध्यम से योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा दिये जा रहे इस मार्गदर्शन को समझ सकें तो हमारा सतत कल्याण ही होगा। हम गृहस्थ जीवन या सामान्य ब्रह्मचर्य जीवन जीते हुए भी अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। उपनिषदों के समस्त ज्ञान का निचोड़ गीता के प्रत्येक श्लोक में है। ध्यान योग द्वारा साधक कैसे अपनी अन्तर्जगत की यात्रा को पूरा करे-कहाँ कहाँ उसे क्या सावधानियाँ रखनी हैं, यह प्रत्यक्ष मार्गदर्शन गीता में कूट कूट कर भरा है।

ब्रह्मानन्द की ओर एक कदम

उत्तम सुख का झरना अंदर से फूट पड़े, यह बताने के बाद श्रीकृष्ण ऐसे साधकों को, जो संभवतः अब तक समग्र मार्गदर्शन समझ

न पा रहे हों एक प्रकार से आश्वस्त करते हैं एवं पुनः ध्यानयोग में प्रवृत्त हो उस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हेतु आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। अगला श्लोक यही कहता है।

युञ्जनेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ गी० ६/२८

अर्थात्- इस प्रकार (एवं) अपने मन को (आत्मानं) सदा के लिए (सदा) आत्मा के साथ युक्त करके (युञ्जने), निष्पाप होकर (विगतकल्मषः) योगी पुरुष (योगी) सहज ही (सुखेन) ब्रह्मस्वरूप (ब्रह्मसंस्पर्श) अत्यन्त (अत्यन्तं) आनन्द (सुखं) प्राप्त करते हैं (अश्नुते)।

भावार्थ संक्षेप में इस प्रकार हुआ- “इस प्रकार अपने मन को सदा आत्मा के साथ युक्त करके (आत्मा को परमात्मा में लगाकर) वह पापरहित योगी आसानी से (सहज ही) परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूपी अनन्त आनन्द की अनुभूति करता है।”

ऐसा साधक या योगी भूमानन्द में प्रतिष्ठित होता है। निर्विकल्प भूमि के परमानन्द में प्रतिष्ठित होता है। यह आश्वासन श्रीकृष्ण का है किसी भी ऐसे साधक को जो हिचकिचाहट के कारण इस फलश्रुति को न समझ पाया हो। जिस किसी ने भी चार शर्तें (श्लोक २७) पूरी करली हों, वह सहज भाव से ही ब्रह्म के संस्पर्श से प्राप्त होने वाले अनन्त आनन्द को प्राप्त हो जाता है। यह आश्वासन की पुनरावृत्ति है- योगेश्वर की हर ध्यान योगी के लिए एक प्रेरणा है। “युञ्जनेवं” से अर्थ है जो भगवान से जुड़ गया हो। जीव का ब्रह्म से-आत्मा का परमात्मा से जब मिलन-संयुक्तीकरण हो गया तो ब्रह्म संस्पर्श की प्राप्ति हो जाती है। यह सबसे बड़ा सुख है। यदि हम इन्द्रिय सुख को सबसे बड़ा सुख मानते हैं तो इसका अर्थ यह कि हमारी जीवात्मा परमात्मा से बिछुड़ गयी है। भगवान कहते हैं-इस वियोग को संयोग में बदलो, तभी सच्चा

सुख-ब्रह्मानन्द मिलेगा। जब यह सुख मिलेगा तो अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी। “लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल, लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गयी लाल” की तरह ऐसा लगने लगेगा-मानों चारों ओर परमात्मा ही परमात्मा समाया है। ऐसी अनुभूति अनन्त आनन्द को प्रदान करती है।

स्वार्थ से परमार्थ की ओर

सांसारिक कामनाओं के रहते सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। उनके रहते तो लौकिक प्रेम, वासनाएँ-कामनाएँ ही पैदा होंगी एवं हम उनकी आग में जलते जलते यह सुरदुर्लभ जीवन नष्ट कर देंगे। मनोकामना पूर्ति के लिए किये गये भजन आदि-आध्यात्मिक उपचारों से तो हम अपना भिखारीपन ही बताते हैं। परम पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने कहा है कि “तुम यदि परमात्मा की प्राप्ति के लिए परमात्मा को भजते हो तो तुम असली पुजारी हो। भिखारी से तुम पुजारी बनो।” भगवान से भगवान के लिए मिलो- मनोकामना के लिए नहीं। बड़ी चीज-ऊँची चीज पाने का प्रयास करो तो छोटे छोटे लाभ तो अनायास ही तुम्हें मिल जायेंगे। इसके लिए वे मार्ग भी बताते हैं- “शरीर को जहाँ भौतिक सुविधाओं और साधनों से सुख मिलता है, वहीं आत्मा को परमार्थ में सुखानुभूति होती है। जब तक परमार्थ द्वारा आत्मा को संतुष्ट न किया जाएगा, उसकी माँग पूरी न की जाएगी तब तक सब सुखसुविधाएँ होते हुए भी मनुष्य को एक अभाव, एक अतृप्ति व्यग्र करती रहेगी। शरीर अथवा मन को संतुष्ट कर लेना भर ही वास्तव में सुख नहीं है। वास्तविक सुख है-आत्मा को संतुष्ट करना-उसे प्रसन्न करना। आत्मा को सुख का अनुभव आनन्द की अनुभूति का एक मात्र साधन है परमार्थ। परमार्थ का व्यावहारिक स्वरूप है सेवा। जो काम उच्च और उज्ज्वल उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, वे परमार्थ हैं। इसीलिये सेवाभावी का जीवन ही सफल और सार्थक कहा जा सकता है।” (सेवा साधना और उसके सिद्धान्त पृष्ठ ८)

वस्तुतः यह क्रान्तिकारी चिन्तन है। जब तक युगधर्म में नियोजन नहीं होगा—सेवा साधना नहीं होगी, व्यक्ति उस वास्तविक सुख को प्राप्त नहीं कर सकता जो गीता में बताया गया है। यह क्रान्तिकारी चिन्तन पूज्य आचार्यश्री का है। उनके इस चिन्तन ने लाखों व्यक्तियों को प्रज्ञापरिजन बना नवसृजन का निमित्त बना दिया।

महानता की प्राप्ति ही सच्चा सुख

इस अष्टादशवें श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण बात आयी है—आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाने वाला (युञ्जनेवं सदाऽत्मानं) परब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूपी आनन्द की अनुभूति करता है (ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते)। यहाँ श्रुति का एक वाक्य जानना जरूरी है—

“यो वैभूमा तत्सुखं नाल्पेसुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः” (छान्दोग्योपनिषद् ७/२३/१) अर्थात् “जो भूमा है (महान् निरतिशय है) वही सच्चा सुख है, अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही सुख है और भूमा को ही विशेष रूप से जानने का प्रयास करना चाहिए।” आगे उपनिषद्कार कहता है—जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है, वही मरणशील है।

महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक उपनिषद् में कहते हैं— जो ब्रह्म को प्राप्त है उसको वह अनन्त असीम, अचिंत्य आनन्द प्राप्त है जिसकी किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती। यही वह अक्षय सुख है जो हर साधक का—योगी का अभीष्ट है— लक्ष्य है। वस्तुतः जब योगी देहाभिमान से रहित होकर ब्रह्म में स्थित हो जाता है तब उसकी ब्रह्म के स्वरूप में अभेद रूप स्थिति हो जाती है। इतना होते ही उसे सर्वोच्च आनन्द, अक्षय आनन्द सहजता से मिल जाता है। परंतु इसके लिए “विगतकल्मषः—पापरहित होना जरूरी है। जो रजोगुण से सतोगुण की यात्रा कर रहा है एवं जो ज्ञान की नौका में बैठा है, वह पापों से मुक्त रहता है।”

ब्रह्मसंस्पर्श की फलश्रुति

अब जिसने ध्यान योग की यह सीढ़ी पार कर ली-उसकी स्थिति क्या होती है, परमात्मा से संस्पर्श रूपी आनन्द को प्राप्त होने के बाद उसकी लौकिक स्थिति क्या होती है, इसे श्रीकृष्ण अगले उन्तीसवें श्लोक में समझाते हैं-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ गी० ६/२९

अर्थात्- ऐसी समाधि में अवस्थित पुरुष (योग युक्तात्मा) चहुँ ओर (सर्वत्र) समभाव से ब्रह्म का दर्शनकर (समदर्शनः) अविद्या से उत्पन्न शरीरादि की सीमारहित आत्मा को (आत्मानम्) सभी प्राणियों में अवस्थित (सर्वभूतस्थम्) और सभी प्राणियों को (सर्वभूतानि च) अभिन्न रूप से आत्मा में (आत्मनि) दर्शन करते हैं (ईक्षते) ।

इसका भावार्थ हुआ-“योगस्थित योगी सर्वत्र समदृष्टि वाला होता है । वह आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है । थोड़ा विस्तार से भावार्थ समझें- “सर्वव्यापी अनन्तचेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सबमें सम भाव से देखने वाला योगी आत्मा को संपूर्ण भूतों में स्थित और सभी भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है ।” (गीताप्रेस गोरखपुर की व्याख्या)

कितनी सुन्दर काव्य की अभिव्यंजना है, यहाँ । श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि जिसने ध्यान में सर्वोच्च अनुभूति प्राप्त करली, वह व्यक्ति तमाम परिस्थितियों में समदृष्टि से युक्त हो जाता है (सर्वत्र समदर्शनः) एवं संसार को अपने ही एक अंग के रूप में देखता है । ध्यान की यह सर्वोच्च उपलब्धि है । उसे अपने भीतर का आत्मा ही सबका आत्मा दिखाई देती है । यह अद्वैत की पराकाष्ठा है ।



यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति

आत्मवत् सर्वभूतेषु

जिस व्यक्ति ने योग की इस परमावस्था में जाकर यह अनुभव कर लिया कि सारा संसार ही उसका एक अंग है—वह उससे अलग नहीं है, न ही संसार के घटक उससे अलग हैं, तो फिर सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। “सर्वत्र समदर्शनः” एक उच्चस्तरीय उपलब्धि है, जिसमें ध्यान योगी स्वयं को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक भावों से ऊपर उठाकर जीवन में प्रतिक्षण यह अनुभूति करने लगता है कि उसकी आत्मा ही सबकी आत्मा है। हर जगह उसे भगवान के दर्शन होने लगते हैं। यह सिद्धि ऐसी नहीं है कि बड़ी मुश्किल से मिलती हो। बस अन्तर्जगत की व्यवस्था भर करने की देर है तो फिर हर क्षण हम चहुं ओर एकत्व भाव की अवस्था की अनुभूति कर सकते हैं। जैसे ही हमें आत्मा की समग्र एवं स्पष्ट अनुभूति हुई, हमारे आसपास संपूर्ण संसार के लिए एक महान प्रेम सागर उमड़ पड़ता है। सफल ध्यान करने वाला अपने प्रेम पूर्ण आलिंगन में सारे विश्व और स्वयं अपने आपको बाँध लेता है।

परम पूज्य गुरुदेव ने अपने साधना समर के विषय में लिखा है। वे लिखते हैं “साधना के तीसरे चरण में प्रवेश करने पर “आत्मवत् सर्वभूतेषु” की किरणें फूट पड़ें। अपने समान सबको देखना। कहने सुनने में यह शब्द मामूली सा लगता है और सामान्यतः नागरिक कर्तव्य का पालन, शिष्टाचार, सद् व्यवहार की सीमा तक पहुँचकर बात पूरी हो गई दीखती है, पर वस्तुतः इस तत्त्व ज्ञान की सीमा अति विस्तृत है। उसकी परिधि वहाँ पहुँचती है, जहाँ परमात्म सत्ता के साथ घुल जाने की स्थिति आ पहुँचती है। साधना के लिए दूसरे के अन्तरंग के साथ

अपना अन्तरंग जोड़ना पड़ता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता का यही मूर्तरूप है कि हम हर किसी को अपना मानें, अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में पिरोया हुआ-घुला हुआ अनुभव करें। इस अनुभूति की प्रतिक्रिया यह होती है कि दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों के दुःख में अपना दुःख अनुभव होने लगता है। ऐसा मनुष्य अपने तक सीमित नहीं रह सकता, स्वार्थों की परिधि में आबद्ध रहना उसके लिए कठिन हो जाता है। दूसरों का दुख मिटाने और सुख बढ़ाने के प्रयास उसे बिल्कुल ऐसे लगते हैं, मानों यह सब अपने नितान्त व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए किया जा रहा हो।” (“सुनसान के सहचर”-हमारे दृश्य जीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ-पृष्ठ ९३-९४)। कितनी स्पष्ट व्याख्या है गीता के इस श्लोक की। पूज्यवर ने यह जीवन जिया एवं हर साथ रहने वाले-उनसे मिलने वाले को यह अनुभूति भी हुई। गुरुदेव लिखते हैं कि उनने एक प्रयोगात्मक जीवन जिया है। आध्यात्मिक आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में तालमेल बिठाते हुए कैसे जिया जाय, यह सीखा है और अन्य भी अनुकरण कर सकें, ऐसा जीवन आचार्यश्री ने जिया।

ईक्षते समदर्शनः

ध्यानयोगी गीताकार के अनुसार संपूर्ण प्राणियों में अपने स्वरूप को स्थित देखता है। हर परिवर्तनशील वस्तु, व्यक्ति आदि में योगी अपरिवर्तनशील अपने स्वरूप को ही देखता है (सर्वभूतस्थमात्मानम्)। दूसरा वह संपूर्ण प्राणियों को अपने अन्तर्गत देखता है। वह योगी संपूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप से ही पैदा हुए, स्वरूप में लीन होते हुए और स्वरूप में स्थित देखता है। (सर्वभूतानि चात्मनि)। वह सतत यही अनुभूति करता रहता है कि सब जगह एक सच्चिदानन्दधन परमात्मा ही संव्याप्त है। जैसे सोने के बने विभिन्न गहनों में हम एक सोने को ही देखते हैं, ध्यान योगी तरह तरह की वस्तुओं और व्यक्तियों में समरूप

से एक अपना ही स्वरूप देखता है (ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः)। यह एक विलक्षण सिद्धि है। ध्यानयोग में सतत अभ्यास करते करते इस योगी का अन्तःकरण अपने स्वरूप में परमात्मा में विलीन-तद्रूप हो जाता है (योग युक्तात्मा)।

श्री भगवान ने जब यह कहा कि आवेगों और आवेशों के कलंक से छूटकर और सतत योग में लगे रहकर योगी अनायास-सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्शरूप अतिउच्चस्तरीय आनन्द को प्राप्त होता है (६/२८) तो उनका आशय उस योगी से है जिसने इस अभ्यास को करते हुए ऐकान्तिक जीवन जीते हुए सभी कर्मों का त्याग नहीं किया है। यह रोजमर्रा के जीवन में कार्यरत योगी है, जिसकी निद्रा-आहार-विहार-जागरण-कर्मप्रयास सभी योगयुक्त है (६/१७) अर्थात् इन सब अवस्थाओं में योगी भगवान से “युक्त” है-उसके साथ तदाकार हो चुका है। वह जो कुछ भी करता है भगवान को ही अपनी आत्मा और “सर्वमिदं” तथा अपने जीवन और कर्म का आश्रय-आधार मानकर करेगा (“गीता प्रबन्ध” पृष्ठ २५५ श्री अरविन्द)। जब योगी ब्रह्ममय हो गया, तो उसे हर कार्य को करते हुए सर्वत्र ईश्वर के-आदर्शों की सत्ता के दर्शन होते हैं। श्री भगवान कह रहे हैं कि जिस पुरुष की आत्मा योगयुक्त है-वह आत्मा को सब भूतों में देखता है और सब भूतों को आत्मा में देखता है। वह सर्वत्र समदर्शी होता है (६/२९)। जो कुछ भी वह देखता है, वह उसके लिए आत्मा है-सब भगवत् सत्तामय है। गीता इसके तुरन्त बाद आश्वासन देती है-“जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अन्दर देखता है, वह मेरे लिए नहीं खोता और न मैं उसके लिये खो जाता हूँ।” आइए! इसी भावार्थ वाला अगला तीसवाँ श्लोक देखते हैं। मेरे अंदर सब कुछ, सभी ओर मैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६/३०

भावार्थ से पूर्व शब्दार्थ देखते हैं जो कि बड़ा ही सरल है-

“जो योगी पुरुष (यः) मुझ परमेश्वर को (मां) सभी ओर (सर्वत्र) देखते हैं (पश्यति), समस्त भूतों को (सर्वं) मुझ में ही (च मयि) देखते हैं (पश्यति), मैं-परमेश्वर (अहं) उनके लिए (तस्य) अदृश्य नहीं होता (न प्रणश्यति) और वह भी (स च) मेरे लिये (मे) अदृश्य नहीं होते (न प्रणश्यति)।”

भावार्थ फिर से एक बार-“जो योगी संपूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव-परमात्मा को ही संव्याप्त देखता है और संपूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत ही देखता है (अध्याय ९ श्लोक ६) उसके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता और न ही वह मेरे लिए अदृश्य होता है।”

यह एक प्रकार की ब्राह्मीस्थिति का वर्णन है, जिसमें एकात्मदर्शी योगी समस्त प्राणियों की आत्मारूप आदर्शों का समुच्चय उस परमात्मा की उपासना को ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय मानता है। उसका परमात्मा से कभी भी विच्छेद नहीं होता। सदैव एकरसता का भाव बना रहता है। भक्तियोगी-सभी संत इनके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। जो जीवन भर कर्मयोग में लगे रहे चाहे वे कबीर हों, रैदास हों, मीरा या दादू, एकनाथ या ज्ञानेश्वर-सदैव परमात्मा में ही लीन रहे।

द्वैत से अद्वैत की ओर

जैसे ही योगी को अपने अंदर की परमात्मसत्ता की अनुभूति हुई-अपने आसपास के संपूर्ण संसार के लिए महान प्रेम का सागर उसके अंदर से उमड़ने लगता है। वह उस दिव्य सामंजस्य की अनुभूति करने लगता है, जिसमें अब द्वैत नहीं रहा-अद्वैत स्थापित हो जाता है। साधक-सविता एक-भक्त-भगवान एक-एकत्व-अद्वैत-मिलन दोनों का-यह हमारी गुरुसत्ता का ध्यान का निर्देश सार्थक होने लगता है। अपना अहं भूल गया, राग-द्वेष से मुक्त हो गया, ऐसा साधक सार्वभौमिक

दृष्टि पाकर दिव्यकर्मी बन जाता है-सच्चा ध्यानयोगी बन जाता है। वह जब आत्मा को बाहर देखता है, तो वह केवल सर्वव्यापी परमात्मा के ही दर्शन करता है एवं अहं द्वारा अनुभूति में आनेवाला यह सारा संसार सिमटकर उसकी आत्मसत्ता-अर्थात् परमसत्ता में विलीन हो जाता है (सर्वं च मयि पश्यति)। एक अनन्त विराट् रूपी परमात्मा की उसे समग्र-संपूर्ण अनुभूति होने लगती है।

विकास का एक नया आयाम

श्रीकृष्ण अतिकुशल चिकित्सक व शिक्षक हैं। वे बार-बार कुछ शब्दों को दुहरा देते हैं, ताकि विगत चिंतन में कोई भ्रम रह गया हो, तो वह दूर हो जाय। ऐसी ब्राह्मी स्थिति में पहुँचने के बाद योगी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण आमूलचूल बदल जाता है। अब उसे दिव्य ब्रह्म के सिवाय और कुछ दिखाई नहीं देता। पशु-पक्षी-मनुष्य-जड़ जगत-प्रकृति के अंग-अवयव सभी सिवाय मेरे अर्थात् परमात्मा के ही अंश दिखाई देते हैं (डीप इकॉलाजी की मूल अवधारणा)। यह अनुभूति क्षणमात्र के लिए नहीं होती- यह तो एकात्मता वाली स्थिति है। फिर ऐसा साधक भगवान से कभी विलग नहीं होता (तस्याहं न प्रणश्यामि) और न परमात्मा ही उससे कभी पृथक् होता है (स च मे न प्रणश्यति)। यह एक प्रकार से ज्ञानी का-कर्मयोगी का-भक्तियोगी साधक का नया जन्म है-अपने आपके बारे में नूतन जागृति है और विकास का एक नया आयाम खुल चुका है जा उसे पूर्णत्व की ओर ले जा रहा है।

इस स्थिति का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं-सन्मुख होहिं जीव मोहिं जबहीं, कोटि जनम अघनासहि तबहीं। जैसे ही जीव परमात्मा मय हुआ-उसका अंतःकरण निर्मल हो जाता है, उसके कोटि-कोटि जन्म के पाप कट जाते हैं।

स्वामी शिवानन्द (रामकृष्ण मिशन अपनी) बिल्ली को भी प्रणाम करते थे, क्योंकि उन्हें उसके अंदर भी परमात्मा के दर्शन होते

थे। गोस्वामी जी ने “सियाराममय सब जग जानि” के रूप में इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है। जब चारों ओर भगवान ही भगवान दिखाई देते हैं, तो दृष्टि निर्मल हो जाती है। साधना से-अविराम परमात्मा का चिन्तन करने से दृष्टि पारदर्शी हो जाती है। भगवान इस सृष्टि के केन्द्र में हैं-इसीलिए उनके स्थान को शाश्वत धाम कहा गया है। वहाँ काल है ही नहीं, समय है ही नहीं, इसीलिये उन्हें महाकाल कहा गया है।

पलक झपकते

श्री सुदर्शन सिंह चक्र का एक उपन्यास है “पलक झपकते”। आपने आँख बंद की- पलक झपकायी इसे पलक झपकते कहते हैं। वे लिखते हैं कि सृष्टि का निर्माण भगवान ने पलक झपकते किया है। गोलोक में श्रीकृष्ण हैं- सभी सखा हैं-नृत्य चल रहा है। भगवान का सखा उनसे पूछता है कि कन्हाई यह सृष्टि कैसे चल रही है। भगवान कहते हैं कि पलक झपकते चल रही है। काल व देश साथ-साथ चलता है। भगवान केन्द्र में हैं, इसलिये समय व्यापता नहीं। हम सब परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। हम चारों ओर इसी परमात्मा को संव्यास देखें, तो हमारी दृष्टि निर्मल-परिपक्व हो जाएगी। फिर वह “अहं” प्रेरित बुद्धि द्वारा नहीं- अंतःकरण के श्रीकृष्ण द्वारा संचालित होगी। इस उपन्यास का आशय गीता के इन्हीं श्लोकों की व्याख्या से था।

मनुष्य को सर्वत्र उन्हीं भगवान के दर्शन करने होंगे- भगवद्रूप देखना होगा-इसी साक्षात्कार की स्थिति में निवास करना पड़ेगा और इसी भाव के साथ कर्म करना होगा, फिर परमात्मा उसमें अदृश्य कैसे हो सकते हैं। योग की यह परम फल की अवस्था है। कर्मयोग की व्याख्या में भक्तियोग के समावेश का एक अद्भुत प्रयोग है। यह तीसवाँ श्लोक जिसमें वे एक अतिविलक्षण-उच्चस्तरीय आयामों तक पहुँचाने वाला आश्वासन देते हैं। “जो मुझ वासुदेव को सर्वत्र देखता

है उसके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता, न ही वह मेरे लिए अदृश्य होता है।”

विराट जगत के एकमात्र आधार

भगवान आगे दसवें अध्याय के आठवें श्लोक में इस रहस्य को खोलते भी हैं—“अहं सर्वस्य ऽभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते” (मैं वासुदेव ही संपूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ और मेरे कारण यह जगत चेष्टा करता है) १०/८- जिस प्रकार आकाश बादलों के सभी अंशों में संव्याप्त है, इसी प्रकार परमेश्वर समस्त चराचर संसार में व्याप्त है। वे ही इस चराचर विश्व के एकमात्र आधार भी हैं। जिस प्रकार ब्रज की गोपियाँ अपनी आँखों से हमेशा सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन करती थीं, जैसे अर्जुन ने भगवान कृष्ण के दिव्य शरीर में (दिव्य चक्षुओं द्वारा), यशोदा ने बालक रूप श्रीकृष्ण के मुख में और परम भक्त काकभुसुण्डि ने भगवान श्रीराम के उदर में समस्त विश्व को देखा था, वैसे ही हर दिव्यकर्मी भक्त को भगवान के किसी भी स्वरूप के अन्तर्गत समस्त विश्व को देखना चाहिए।

कई बार पाठक यह नहीं समझ पाते कि भगवान अपने भक्त के लिए अदृश्य नहीं होते और भक्त उनके लिए अदृश्य नहीं होता। इसका उत्तर एक ही है कि भगवान के ऐश्वर्ययुक्त सौन्दर्य का एक बार साक्षात् दर्शन हो जाने के बाद भक्त और भगवान का सदा के लिए संबंध स्थापित हो जाता है। श्रद्धा से ही यह सब हो पाता है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को क्रमशः कर्मयोग से भक्तियोग की ओर ले जा रहे हैं। ऐसे में ध्यान योगी के लिये यहाँ उनसे एक ऐसा संकेत किया है कि वह कभी भी उस पथ पर चलना आरंभ करके रुकेगा नहीं। इस स्थिति में दिव्य ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

किंतु क्या यह जीवित रहते-कामवासना, इच्छाओं राग-द्वेष के रहते संभव है? एक कर्मयोगी भक्त को, जो ध्यान योग में प्रतिष्ठित हो

रहा है, रहना तो इसी जगत में है- जहाँ अहं-लोभ-मोह की बेड़ियाँ हैं।
 क्या दिव्यकर्मी इस प्रवाह को उलट सकेगा। श्रीकृष्ण अपनी
 अगले श्लोक में की गयी घोषणा में यह बात कह देते हैं।

स योगी मयि वर्तते

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ६/३१

शब्दार्थ- जो (यः) समस्त प्राणियों में अवस्थित (सर्वभूतस्थित)
 मुझ परमेश्वर का (मां) समान रूप से (एकत्व भाव से) अवस्थित
 रहकर (एकत्वं आस्थितः) भजन करते हैं (भजति), सभी स्थितियों
 में (सर्वथा) वर्तमान रहने पर भी (वर्तमानः अपि) वह (सः) योगी
 व्यक्ति (योगी) मुझमें (मयि) ही स्थित रहते हैं (वर्तते)।

भावार्थ हुआ-“जो योगीजन एकीभाव में स्थित होकर समस्त प्राणियों
 में अवस्थित मेरे स्वरूप की उपासना करते हैं, वह सभी प्रकार से
 बरतते हुए (व्यवहार करते हुए) भी (वर्तमान रहने पर भी) मुझमें ही
 निवास करते हैं।”

एकत्व की प्राप्ति एक सिद्धि है। पूर्णतः जो समत्व को प्राप्त हो
 गया है, वही विविधता में एकता का दर्शन कर सकता है। फिर वह
 आत्मरूप में स्थित सच्चिदानन्दघन वासुदेव को ही सब कुछ मानकर
 उन्हीं की उपासना करता है। ऐसा व्यक्ति कभी कामदग्ध होकर शरीर
 रूप में, अहं से ग्रसित होकर मन के रूप में, दम्भपूर्वक तृष्णा भाव से
 बुद्धि रूप में कार्य नहीं करता। उसे अपने भीतर-आसपास सभी
 वस्तुओं-प्राणियों में सतत परमात्मसत्ता की ही उपस्थिति दिखाई देती
 है। चाहे उसका बाह्य स्वरूप कैसा भी हो-वह सदैव परमात्मा में ही
 निवास करता है, यह परमात्मा रूप में श्रीकृष्ण की घोषणा है।



सुख या दुख में सर्वत्र समत्व के दर्शन करता है योगी

गीता के छठे अध्याय का तीसवाँ एवं इकतीसवाँ श्लोक विशेष मनन करने योग्य है। इन्हीं में से तीसवें की विस्तृत व्याख्या विगत अंक में प्रस्तुत की गई थी। “आत्मवत् सर्वभूतेषु” की पूज्यवर की विस्तृत विवेचना का वर्णन पाठकों ने उनकी ही लेखनी के माध्यम से जाना। स्वयं उनसे यह जीवन जिया और “वसुधैव कुटुम्बकम्” की मान्यता को अपने जीवन में विकसित कर इतना विराट गायत्री परिवार वे खड़ा कर गये। “ईक्षते समदर्शनः” योगी को मिलने वाली एक सिद्धि है जिसकी चर्चा गतांक में की गयी थी। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो भी मुझे सर्वत्र देखता है, और सब कुछ मेरे अंदर देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और न ही वह मेरे लिए अदृश्य होता है। ब्राह्मी स्थिति की यह झलक हम कबीर, एकनाथ, रैदास, मीरा, रामकृष्ण, एवं स्वयं पूज्यवर में देखते हैं। इसमें साधक द्वैत से अद्वैत की यात्रा करता है उसके विकास के कई नूतन आयाम खुल जाते हैं जो उसे पूर्णत्व की ओर ले जाते हैं। वे वासुदेव ही संपूर्ण जगत की उत्पत्ति के कारण हैं और उन्हीं के कारण यह जगत चेष्टा करता है यह रहस्य जान लेने वाला मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। आगे ३१वें श्लोक में कहते हैं कि जो भी दिव्य कर्मी योगी एकीभाव से समस्त प्राणियों में भगवद्रूप की उपासना करते हैं, वे वर्तमान में रहते हुए भी उन्हीं परमेश्वर में निवास करते हैं। एकत्व की प्राप्ति एक सिद्धि है। एवं यह प्राप्त कर लें तो भगवान का आश्वासन मिल जाता है कि साधक उन्हीं में निवास करेगा। इसी व्याख्या को आगे बढ़ाते हैं।

ईश्वर में वास

इकतीसवें श्लोक में भगवान ने जो कहा है, उसे संक्षेप में पुनः देखते हैं— “जो एकत्व में स्थित होकर सब प्राणियों में स्थित मेरी उपासना करता है वह योगी वर्तमान में रहते हुए (सभी प्रकार का

निर्वाह करते हुए) भी मुझमें ही वास करता है।” यह एक प्रकार से विविधता में एक उस परमात्मा का ही सतत दर्शन है। ऐसा व्यक्ति शरीर, मन, व बुद्धि से परे मात्र आत्मा रूप में ही वास करता है, उसी की सेवा करता है, सभी ओर उसे परमात्मा की-सद्गुरु की उपस्थिति नजर आती है। इस दिव्य अनुभूति के साथ वह २४ घंटे जीवन जीता है, फिर चाहे उसका बहिरंग स्वरूप कैसा भी हो-जनक, रैदास, कबीर, सदन कसाई या दादू जैसा-वह सदैव उसी परमात्म सत्ता में निवास करता है। (सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयिवर्तते) अब उसके द्वारा कोई गलत कदम नहीं उठ सकता। उसे वह मूल स्रोत प्राप्त हो गया है जो परम आनंद से भरा पूरा है। उसकी कामनाएँ निःशेष हो गयी हैं। वह किसी से कुछ अपेक्षा नहीं रखता। वह मुक्त हो जाता है सभी बंधनों से एवं पूर्ण पुरुष बन जाता है। वह संसार को सत्य, न मानकर आत्मजागृति प्राप्त कर अपने अंदर ही सत्य की प्राप्ति ईश्वर रूप में कर लेता है। वह जान जाता है कि वह एक पथिक मात्र है- आत्मारूप में। शरीर एक सराय है, गेस्ट हाऊस है उसे मात्र पथिक की, आत्मिक प्रगति की चिंता करनी है, इस क्षणिक “हाल्ट” शरीर से जुड़े राग-द्वेषों में उलझना नहीं है।

ऐसे दिव्यकर्मी ही एक परिपूर्ण आचरण से शिक्षण देने वाले आचार्य, दूवदूत, महामानव, ईश्वरीय मानव कहलाते हैं। उसे सारा संसार अपना ही एक विराट विस्तार दिखाई देता है। सभी ओर उसे परमात्म सत्ता के दर्शन होते हैं। परमात्म चेतना में सतत जीने का उसे लाभ एक निराले रूप में मिलता है। उसके सभी कार्य सहज रूप में होने लगते हैं। उसके कर्म संस्कार रूप में नहीं पकते, उसके लिए वे प्रारब्ध नहीं बनते। उसके कर्म अकर्म बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के विषय में गीताकार आगे कहते हैं-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं व यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६/३२

शब्दार्थ-

हे अर्जुन (अर्जुन) जो (यः) समस्त भूतों में (सर्वत्र) अपने साथ तुलना करके (आत्मा-उपमन्येन) सुख या दुख, प्रिय और अप्रिय को (सुखं वा यदि वा दुःखं) समान भाव से देखते हैं (समं पश्यति), वही योगी (सःयोगी) श्रेष्ठ होते हैं, ऐसा मेरा मत है (परमः मतः)।

भावार्थ- “हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति (अपनी आत्मदृष्टि से) सुख अथवा दुख में सर्वत्र समत्व के ही दर्शन करता है, सभी को समभाव से देखता है, वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है।”

योग की पराकाष्ठा

यहाँ यह बात भलीभाँति समझने योग्य है। जिस योगी ने आत्मा के तत्त्वरूप में एकत्व का भाव समझ लिया है, उसके लिए सारा संसार उसके निज का विस्तार मात्र हो जाता है। सबके सुख दुख उसके अपने सुख-दुख हो जाते हैं। हमारे किसी भी शरीर के अंग में होने वाली पीड़ा हमें अनुभव होती है-हमारी अपनी लगती है, हम उससे प्रभावित होते हैं। इसी तरह आत्मज्ञानी दिव्यकर्मी जिस ज्ञान अवस्था में पहुँच जाता है, उसमें सारे संसार को वह अपने विराट प्रेम के घेरे में बाँधकर उनका हिस्सेदार बन जाता है। गीता का यह भाग योगी की पराकाष्ठा की स्थिति का द्योतक है जिसमें वह उस महात्मा के सदृश्य दिखाई पड़ता है जिसने सर्वव्यापी आत्मा को अपनी वास्तविक आत्मा के रूप में अनुभव कर लिया है। ध्यान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा यह योगी सचमुच इस पृथ्वी पर ईश्वरीय मानव बन जाता है।

सभी ओर पवित्रता का भाव

“सर्वत्र समं पश्यति” शब्द को ठीक से समझना होगा। दक्षिणेश्वर में भण्डारा चल रहा था। रामकृष्ण परमहंस के भानजे हृदयनाथ ने पूछा-मामा! योगी कैसा होता है? वही जिज्ञासा जो अर्जुन के मन में स्थितप्रज्ञ के विषय में जागी थी। जैसा व्यक्ति वैसा समाधान। ठाकुर ने कहा-यह योगी है जो सामने बैठा है। निर्विकार भाव से भोजन कर रहा

है। भोजन बासी था पर वह उसे उसी भाव से खा रहा था, जैसा स्वाद लेकर एक सामान्य व्यक्ति खाता है। ठाकुर बोले-तू इसके पीछे लगले। यही योगी है। हृदय ने सोचा कि परीक्षा करके देखें कि इसे गुस्सा आता है कि नहीं। उसने पत्थर का ढेला मारकर देखा-योगी को गुस्सा नहीं आया। अब हृदय ने योगी से पूछा कि ज्ञान कैसे प्राप्त होता है- कहाँ से प्राप्त होता है। योगी उसकी मनःस्थिति को जानता था। उसने कहा-तुझे क्या लेना देना ज्ञान से। फिर भी समझ ले- जब गंगा जल के पानी और नाली के पानी में कोई अंतर नहीं दिखाई दे तब आदमी योगी बनता है। यह भाव की उच्चतम स्थिति है। सभी ओर एक जैसा पवित्रता का भाव दिखाई देना। पंचतत्त्वों को भेदकर चेतना जब इस स्थिति में आकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाती है तब वह व्यक्ति योगी कहलाता है।

गीताकार का श्लोक क्रमांक ३०-३१ में एक ही निर्देश है कि मुक्त योगी के लिए एक मात्र विधान यही है कि वह भगवान में रहे- भगवान से प्रेम करे और सब प्राणियों के साथ एकत्व स्थापित कर लें। योगी का लौकिक प्रेम तब आध्यात्मिक प्रेम में बदल जाता है और उसे इन्द्रियानुभव की तुलना में आत्मानुभव होने लगता है। यह प्रेम दिव्य होता है। और ईश्वर प्रेम की नींव पर प्रतिष्ठित होता है। यह अनुभूति उसे निर्भय बना देती है, सब उसे भगवद्रूप दिखाई देता है। वह न तो किसी पदार्थ को नापसंद करता-किसी से घृणा नहीं करता बल्कि जगत में भगवान से और भगवान में जगत से प्रेम करने लगता है। (श्री अरविन्द-गीता प्रबंध-पृष्ठ २५६)

दुख या सुख, सभी में समभाव

आत्मदर्शन की समता की स्थिति में योगी कैसा होता है, इस बात को भगवान समझाते हुए कहते हैं कि वह सब कुछ समभाव से देखता है-चाहे दुख हो या सुख। ऐसा ही साधक परम योगी होता है। वह सब में अपनी आत्मा को, सब में ईश्वर को देखता है और इन सभी के बाह्य रूपों से क्षुब्ध या मुग्ध न होकर करुणा से द्रवित हो उनका दुख

दूर करने का उपाय सोचता है। सब प्राणियों के कल्याण में स्वयं को लगाने, लोगों को आध्यात्मिक आनन्द की पराकाष्ठा तक पहुँचाने में, सम्पूर्ण समाज को आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करने के काम में प्रवृत्त होकर वह आजीवन स्वयं को लगाए रहता है। अपने जीवन को वह दिव्य जीवन बना लेता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों के विषय में ही कहा जाता है कि उनने स्वर्ग को जीत लिया है। परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य एवं ठाकुर श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन ऐसा ही कहा जा सकता है। दोनों ने जीवन भर तप किया, स्वयं समिधा की तरह जले और परहितार्थी-औरों के दुखों को मिटाने हेतु स्वयं को नियोजित किया। वे किसी के ऐश्वर्य से प्रभावित हुए बिना अथवा उसकी द्रवित करुण स्थिति से अप्रभावित रह कर्म करते रहे और त्रिगुणात्मिका माया के सब कर्मों की ओर स्थिर होकर देखते रहे। उद्देश्य उनका एक ही रहा। अपनी ही भाँति संपूर्ण प्राणियों में एक ही परमात्मा को देखना और उन्हें लक्ष्य तक पहुँचाना। यही कारण है कि रामकृष्ण मिशन आज ठाकुर के महाप्रयाण के १२० वर्ष बाद भी एवं पूज्यवर का गायत्री परिवार उनके अवतरण के १०० वर्ष पूरा होते होते उनके सूक्ष्म व कारण स्तर पर वही कार्य सतत करता आ रहा है। लाखों-करोड़ों को आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त करता आ रहा है।

भगवत्ता के साथ ऐक्य

छठे अध्याय की इस पराकाष्ठा पर पहुँच कर भगवान व्यक्ति को योग की पराकाष्ठा के रूप में स्थापित करते हैं। (सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः-श्लोक ३१)। जो सब में स्थित भगवान से प्रेम करता है और जिसकी आत्मा सदा सर्वदा भगवत्ता के भाव से उनमें प्रतिष्ठित है, वह चाहे जैसे भी रहे, कर्म करे-भगवान में ही रहता है और कर्म करता है। भगवान के साथ ऐक्य भाव स्थापित करने की बात समझाना ही योगेश्वर का एकमात्र लक्ष्य है एवं इस आत्मसंयम योग रूपी अध्याय में उसे वे ठोंक बजाकर स्थापित करके अंतिम श्लोक में

कह भी देते हैं—“तस्माद्योगी भवार्जुन।” यही भागवत रहस्य है जो गीताकार कहना चाह रहा है और इसी के लिये ज्ञान, कर्म, तप, आत्मसंयम आदि उपाय बताए गये हैं।

यह बात बड़ी गहराई से समझ लेना चाहिए कि विश्व के साथ एकत्वता का ज्ञान होना बड़ी दुर्लभ अवस्था है। ऐसी अवस्था पर पहुँचने पर ऐसे महायोगी केवल विश्वभर के मनुष्यों के ही नहीं, सभी प्राणियों के सुख-दुखों का अनुभव अपने अंदर करते हैं और सबके सुख-दुखों के साथ स्वयं को भी जोड़े रहते हैं। दूसरे के पैर में काँटा चुभा तो भी योगी अपने अंतर में उस क्लेश को अनुभव करते हैं। तब ठाकुर रामकृष्ण परमहंस नाँव वाले को चाँटा मारे जाने पर अँगुलियों के निशान अपने गाल पर अनुभव करते हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा जी अपने भक्त की टांगों पर तांगे का पहिया गुजर जाने पर उसका दर्द अपनी जाँधों पर महसूस करते हैं और उनके उस स्थान पर नीले निशान भी पड़ जाते हैं। संत ज्ञानेश्वर भैंसे पर मार पड़ती देख उसकी पीड़ा अपने ऊपर अनुभव कर उपस्थित पंडित समुदाय के समक्ष उसी से वेदों का उपदेश भी कहलवा देते हैं। यही विश्वप्रेम आत्मस्वरूप ब्रह्म का सब भूतों में दर्शन रूपी ब्रह्मज्ञान है। यही है “अहं ब्रह्मास्मि” का भाव जो योगी के स्वर में मुखरित ही नहीं होता मूर्तिमान होता दिखाई देता है।

विश्वप्रेम आत्मा का विस्तार

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—“जत उच्च तोमार हृदय, ततो दुःख जानिओ निश्चय” अर्थात् जितना ऊँचा तुम्हारा मन-हृदय होगा, लोगों के दुःख से तुम्हें उतना ही दुख भोगना होगा। तभी तो स्वामी जी सुदूर फिजी के समीप द्वीप में घटे एक घटना क्रम ज्वालामुखी विस्फोट से प्रभावित हो रात्रि भर बैचेनी में टहलते रहते हैं व इसकी पूर्व सूचना सभी शिष्यों को दे देते हैं। ऐसी मुक्तात्माएँ संसार के समस्त दुखों का स्पन्दन अपने अंदर अनुभव करती हैं। वे अपना सारा जीवन उनकी

निवृत्ति हेतु अर्पित कर देती हैं। यह बाहरी प्रेम ही विश्वप्रेम है, जीव सेवा है आत्मानंद का विस्तार है।

ठाकुर के जीवन के प्रसंग

ठाकुर श्री रामकृष्णदेव के जीवन में ऐसे कई घटनाक्रम देखे जा सकते हैं। वे काशी यात्रा पर थे। मार्ग में वैद्यनाथ धाम जाते हुए अकाल से पीड़ित सैकड़ों नर-नारी कंकाल रूप में उनसे देखे। रानी रासमणि के दामाद मथुरानाथ बाबू से उनसे रोकर कहा-इन्हें भरपेट खिलाओ, नए वस्त्र दो, सिर पर तेल दो। यही सच्ची तीर्थसेवा है। मथुरा बाबू ने बीच में टोका-बाबा! तीर्थ में अनेक खर्च हैं। इतने सारे आदमियों को खिलाने-पिलाने में तो सारा साथ का रुपया खर्च हो जाएगा। ठाकुर रो पड़े-बोले-तुम लोग जाओ। मैं काशी नहीं जाऊंगा, मैं इन्हीं के पास रहकर इनकी सेवा करूंगा। लाचारीवश मथुरा बाबू ने सभी को भरपेट खिलाया, जैसा रामकृष्ण चाहते थे वैसा किया। दरिद्रों के मुख पर हँसी देख रामकृष्ण वहाँ से उठ गए और साथ चल पड़े। विश्व भर को अपनी आत्मा के रूप में देखना यही है। औरों के दुख से विचलित हो दुख अनुभव करना यही है। इसी तरह एक बार श्री ठाकुर ने देखा-एक पतंगा उड़ता आया-उसके मलद्वार में तिनका बँधा था। इसे देखकर वे काफी देर तक वेदना से अधीर बने रहे। दक्षिणेश्वर की काली बाड़ी के बगीचे में लगी नयी दूब पर से एक व्यक्ति पैदल चला आ रहा था। देखकर ठाकुर असह्य यंत्रणा अनुभव करने लगे। बाद में वे बोले-देखो! छाती पर से कोई मनुष्य चला जाए तो जैसी तीव्र वेदना की अनुभूति होती है वैसा ही दर्द मैंने अनुभव किया था यह अनुभूति उनकी दो घंटे तक बनी रही। पूजा के लिए एक बार बेल-दूब चुनने गए श्री ठाकुर को लगने लगा कि सर्वत्र वही चैतन्य विद्यमान है। बेलपत्ती तोड़ते समय पेड़ की छाल साथ निकल आयी। उस समय वृक्ष को जो वेदना का अनुभव हुआ-वह उन्हें भी हुआ। उसके बाद वे बेलपत्ती चुन नहीं सके। ऐसे कई प्रसंग उनके जीवन के हैं।

पूज्यवर के जीवन के घटनाक्रम

कसाई द्वारा बैल को कसाई घर ले जाते समय परम पूज्य गुरुदेव ने अपनी युवावस्था में (लगभग सत्रह वर्ष आयु) उसे मुक्त करा अन्य बैल न होने की विवशता में खुद हल में दूसरे के स्थान पर जुतकर लगभग बीस मील दूर आश्रित गृह पहुँचाया था, जहाँ उसके प्राणों की रक्षा हो गई। बिल्ली द्वारा कबूतर मुँह में लेकर भाँगते समय उनसे कबूतर को बचाया, उसकी मरहम पट्टी कर उसे मुक्त किया था। दहेज में बहुओं के जलने के समाचार पढ़कर वे क्षुब्ध हो जाते थे—गला रूँध जाता था व कहने लगते थे, कब वह समय आएगा जब ये घटनाएँ रुकेंगी, आदर्श विवाहों की शृंखला चलेगी और नारी सशक्तीकरण होगा। उनके जीवन का बड़ा भाग इसी निमित्त लग गया। उनसे उसे एक विराट आन्दोलन का रूप दिया। उनकी इच्छा थी कि गायत्री परिवार में ही उनसे जुड़े लाखों परिजन अन्तर्जातीय विवाह द्वारा जुड़े बजाय बेमेल—धन आधारित कामज विवाह द्वारा कर्ज से लदे अथवा बच्चियों की अविवाहित स्थिति से आत्महत्या करलें या अल्पायु में ही काल कवलित हो जाएँ। ऐसी स्थिति अब उनके उत्तराधिकारियों द्वारा लायी जा रही है जहाँ दहेज रूपी दानव से वे समाज को पूर्णतः मुक्त करने जा रहे हैं।

स्वयं पूज्यवर अपने १९७१-७२ में लिखे सम्पादकीय (अपनों से अपनी बात—“हमारे दृश्य जीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ”—बाद में “सुनसार के सहचर” रूप में पुस्तकाकार में सम्पादित) में लिखते हैं—“हमारी साधना ने विश्व मानव की पीड़ा को अपनी पीड़ा बना दिया। लगने लगा—मानों अपने ही पाँवों को कोई ऐंठ-मरोड़ और गला दबा रहा हो। सबमें अपनी आत्मा पिरोई हुई है और सब अपनी आत्मा में पिरोये हुए हैं—गीता का यह वाक्य जब अनुभूति की भूमिका में उतरे और अन्तःकरण में प्रवेश करने लगे तो स्थिति दूसरी हो जाती है। अपने अंग-अवयवों का कष्ट अपने को जैसा व्यथित बैचन करता है, अपनी

स्त्री, पुत्र-पुत्रियों की पीड़ा जैसे चित्त को विचलित करती है ठीक वैसे आत्मविस्तार की दिशा में बढ़ चलने पर लगता है कि विश्वव्यापी दुख अपना दुख है और व्यथित-पीड़ित की वेदना अपने को नोंचती है।”

विश्वमानव की पीड़ा उनकी अपनी पीड़ा बनी

कितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। बिल्कुल गीता के श्लोक क्र० २९, ३०, ३१, ३२ का प्रतिध्वनित करती हुई। सचमुच वैसा ही जीवन उनने जिया। विदाई की वेला में (जून १९७१)। उनकी यह व्यथा बार-बार उभरती रही। वे लिखते हैं-“हमें अपने सुख-साधन जुटाने की फुरसत कहाँ रही। विलासिता की सामग्री जहर सी लगती रही। विनोद और आराम के साधन जुटाने की बात कभी सामने आयी तो आत्मग्लानि ने उस क्षुद्रता को धिक्कारा जो मरणासन्न रोगियों के प्राण बचा सकने में समर्थ पानी के एक गिलास को अपने पैर धोने की विडम्बना में बिखेरने के लिए ललचाती है। भूख से तड़पते प्राण-त्यागने की स्थिति में पड़े बालकों के मुख में जाने वाला ग्रास छीनकर माता कैसे अपना भरा पेट और भरे? दर्द से कराहते बालक से मुँह मोड़कर पिता ताश-शतरंज का साज कैसे सजाए? ऐसा कोई निष्ठुर ही कर सकता है। आत्मवत् सर्वभूतेषु की संवेदना जैसे ही प्रखर हुई निष्ठुरता उसी क्षण जल-जलकर नष्ट हो गयी।”

इतनी ऊँचाई तक पहुँचा चिन्तन ही गीता के योगी को स्थापित करता है। ध्यान का यह सर्वोच्च शिखर है। इस चमत्कारी वर्णन को सुनकर अर्जुन लगभग हतप्रभ है। उनके अंदर पुनः शंकायें उठती हैं।



कैसे आए यह चंचल मन काबू में ?

विगत कड़ी में इस महत्वपूर्ण अध्याय के बत्तीसवें श्लोक का हमने बड़ी गहराई से मंथन किया। भगवान इसके पूर्व कह चुके हैं कि जो एकत्व में स्थित होकर सब प्राणियों में स्थित मेरी उपासना करता है, वह योगी वर्तमान में रहते हुए भी-सभी प्रकार का निर्वाह करते हुए मुझ में ही वास करता है (श्लोक ३१)। विलक्षण दिव्य अनुभूति है यह-परमात्मा में निवास करना। इसके बाद भगवान, अर्जुन को सम्बोधित कर कहते हैं कि “जो योगी की भाँति अपनी आत्मदृष्टि से सुख अथवा दुख में सर्वत्र समत्व के ही दर्शन करता है, सभी को सम भाव से देखता है, वह परम श्रेष्ठ योगी है”। (श्लोक ३२)। यह योग की पराकाष्ठा है। ऐसे योगी के लिए सभी ओर पवित्रता ही विराजती है-सब ओर उसे भगवान ही भगवान दिखाई देता है। भगवान में रहकर दिव्य कर्म करना-उनके साथ ऐक्य भाव स्थापित कर लेना-यही योग का उद्देश्य होना चाहिए। ठाकुर श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द एवं परम पूज्य गुरुदेव के दृष्टान्तों के माध्यम से इस भावदर्शन को प्रतिपादित भी किया गया। इन तीनों ही महापुरुषों ने ऐसा ही जीवन जिया। यह भी बताया गया कि विश्वमानव की पीड़ा, अपनी पीड़ा बन जाने पर व्यक्ति महामानव की कक्षा में स्थापित हो भगवान में विराजमान सभी ओर उसी सत्ता को देखता है। यह सब सुनकर अर्जुन का जिज्ञासु मन जागकर पुनः प्रश्न करने लगता है। वह लगभग स्तब्ध है आत्मसंयम से होने वाली इस उपलब्धि को अपने आराध्य के मुख से सुनकर आत्मावलोकन कर वह कुछ पूछना चाहता है।

अर्जुन की जिज्ञासा

अगले दो श्लोक अर्जुन के प्रश्नों के हैं एवं उसके तुरंत बाद सूत्ररूप में योगेश्वर द्वारा दिये गये उत्तर के दो श्लोक हैं। संभवतः उनसे

फिर उसकी जिज्ञासा जाग उठती है एवं वह फिर इसी सबको स्वयं पर लागूकर पुनः प्रश्न पूछ बैठता है। भगवान् धैर्यपूर्वक उसका भी, उसका ही नहीं—हम सबकी जिज्ञासाओं का भी समाधान करते हैं। सैंतालीस श्लोकों वाले इस अध्याय का हर पक्ष—हर पहलू इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे यदि जीवन विज्ञान का मूल कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। अर्जुन की जिज्ञासाएँ हैं—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ६/३३

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ४/३४

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

अर्जुन ने कहा—

हे मधुसूदन कृष्ण (मधूसूदन) आपने (त्वया) सम्यक् दर्शन रूप (साम्येन) यह (अयं) जो (यो) योग (योगः) कहा (प्रोक्तः), मैं (अहं) चित्त की चंचलता के कारण (चंचलत्वात्) इस योग की (एतस्य) विनियत स्थिति (स्थिरां स्थितिम्) नहीं देख पाता (नपश्यामि)।

६/३३

शब्दार्थ

क्योंकि (हि) हे कृष्ण (कृष्ण) मन (मनः) चंचल (चञ्चलं), प्रमथन स्वभाववाला—भ्रम पैदा करने वाला (प्रमाथि), बलवान् (बलवत्), दृढ़ है (दृढम्)। मैं (अहं) उसको (तस्य) वश में करना (निग्रहं) वायु की तरह (वायोरिव—वायोःइव) कठिन (दुष्करं) मानता हूँ (मन्ये)। ६/३४

132

युगगीता

अब दोनों का भावार्थ इस प्रकार है-

“हे मधुसूदन, समत्व में स्थित होकर आपके द्वारा जिस योग का उपदेश दिया गया है, मन की चंचलता के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ। क्योंकि हे कृष्ण। यह मन बड़ा ही चंचल, प्रमथनशील, बलवान और अदमनीय है। इसे वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।” (६/३३ एवं ६/३४)

एक तार्किक के योगेश्वर से प्रश्न

जब कोई शिक्षक हमें किसी उपलब्धि के विषय में इतना बड़ा उसका चित्र सामने रख समझाए, जो हमें अविश्वनीय लगने लगे; ऐसी प्रतीति हो, मानो चमत्कारी सिद्धियाँ हों, वह भी मात्र कर्मयोग से, एक धर्म प्रधान निर्लिप्त घोर कर्मयुद्ध से जिसे निर्मम व निरहंकारी होकर किया जाना है, तो हमें आश्चर्य होने लगता है। क्या ऐसा भी संभव है? क्या हमारे अंदर ऐसा कुछ है, जिसे जान एवं समझकर परमात्मा से साक्षात्कार भी किया जा सकता है। क्या पूर्णता के शिखर तक पहुँचा जा सकता है। हमारे समक्ष जो वर्णन प्रस्तुत किया गया, उसे जानकर अर्जुन की तरह हम भी बौखला सकते हैं, कह सकते हैं कि ऐसा कैसे होगा? कभी-कभी अपने आपके बारे में परिपूर्ण जानकारी न होने-या जो भी हम अपने विषय में जानते हैं, उसे सामने रख हम उत्साहहीन हो जाते हैं। एक प्रकार से अन्दर से अपने विषय में अविश्वास रख अर्जुन एक तार्किक व्यक्ति होने के नाते मानस निर्माण की इस यात्रा पर शंका उठाते हुए कह उठता है कि जो समत्व रूपी योग समझाया गया, वह तो सध नहीं पाएगा, क्योंकि मन बड़ा चंचल है। मन हमेशा परिचित विषय प्रधान-भोग प्रधान क्षेत्रों की ओर भागता रहता है। सिद्धान्ततः वह मान्य हो सकता है, पर मन चूँकि केन्द्रित नहीं हो पा रहा, यह एक अव्यावहारिक सा सिद्धान्त प्रतीत होता है।

ध्यान में मन नहीं लगता

अर्जुन की यह जिज्ञासा हममें से हर किसी की हो सकती है। ध्यान में मन नहीं लगता-मन भागता है-बार-बार भटकता है। कभी चीटियाँ काटती प्रतीत होती हैं, कभी शरीर में कहीं दर्द उठ बैठता है, तो हिलने-डुलने का मन करता है। विचार प्रवाह, उसमें भी कामुकता प्रधान-अनापशनाप चिन्तन हमारे मन को केन्द्रीभूत होने ही नहीं देता। अर्जुन को भगवान ने प्रिय शिष्य की तरह स्नेह देते हुए समझाया है, इसलिये वह भी अपना प्रश्न खोलकर अपने आराध्य के समक्ष रख देता है। कहता है कि यह मन तो बड़ा भ्रामक है-बड़ा बलवान है और दमन करने में बड़ी असमर्थता अनुभव होती है। उसे नियंत्रित करना तो ऐसा है कि जैसे तीव्रगति से चलने वाले वायु के प्रवाह को रोकने का प्रयास किया जाय।

वायु रोकने जैसा कठिन कार्य

मन की दौड़ बहुत तीव्र होती है। इतनी कि कुछ ही क्षणों में यह मीलों दूर की यात्रा कर वापस आ सकता है। यह स्थिर होकर बैठे, इसका जितना प्रयास किया जाय, उतना ही तीव्रगति से यह भागता है। वायु के प्रवाह को रोकने जैसी उपमा गीताकार ने दी है। भगवान श्री वेदव्यास ने जब अर्जुन की जिज्ञासा को शब्द दिए होंगे तो चिंतन के उच्चस्तरीय आयाम में जाकर उन्हें यह दो शब्द मिले होंगे-प्रमाथि (भ्रमोत्पादक), निग्रहं वायोःइव दुष्करम् (वश में करना वायु रोकने की तरह कठिन है)। जिसने भी वायु के तीव्र प्रवाह, आँधी के झोंकों अथवा चक्रवातों का सामना किया है, वह जानता है कि कितना वेग उनमें होता है। उन्हें रोकना नितान्त असंभव है। विज्ञान ने आज के विकसित युग में चक्रवातों से ऊर्जा पैदा करने के तरीके खोज लिये हैं, पर उन्हें रोक पाना असंभव है। मन कामनाओं-वासनाओं की भगदड़ में निरत रहता है-भ्रामक परिकल्पनायें करता है एवं उस दौड़ को रोक

पाना अत्यंत कठिन कार्य है। ऐसे में अर्जुन की जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कैसे इसे नियंत्रित किया जाये-कैसे ध्यान योग में प्रवृत्त हुआ जाये-कैसे यह आत्मसंयम योग साधा जाय, जिसकी व्याख्या इतने विस्तार से इस अति महत्वपूर्ण अध्याय में योगेश्वर कर रहे हैं।

एकाग्रता का अभ्यास बनाम ध्यान

अर्जुन के चित्त की यह दशा तब भी थी जब गीता का आरम्भ हुआ था। उस समय भी तर्क जाल का प्रयोग कर बिना एकाग्र चित्त हुए उसने श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी युद्ध न करने की बात कह दी थी। अब पुनः वह प्रसंग सामने आने पर वह मन की चंचलता की बात कह रहा है। उसे आशा नहीं थी कि श्रीकृष्ण उसकी इस कमजोरी पर प्रहार करेंगे। किंतु जब आत्मसंयम योग के रूप में वह शिखर का दर्शन कर लेता है तो उसकी जिज्ञासा आरंभ हो जाती है। वह भी सकारात्मक ढंग से। यह एक शिष्य के लिए शुभ चिन्ह है।

अर्जुन को मन की एकाग्रता का अभ्यास है। उसने निशाना लगाकर मछली की आँख बेधी थी और द्रौपदी को जीता था। उसने तेल के प्रवाह में गोल घूमती मछली की छवि मात्र देखकर अपना बाण चलाकर मन की एकाग्रता की चमत्कारी क्षमता का प्रदर्शन किया था, किंतु मन की एकाग्रता और तल्लीनता-तद्रूपता वाले वास्तविक योग में अंतर है। ध्यान योग सधता है पहले सचेतन मन की एकाग्रता से-इसके बाद उसे अचेतन मन पर केन्द्रित किया जाता है, ताकि वह चैतन्यवान-प्राणवान बन सके और इसके बाद सचेतन व अचेतन दोनों को जोड़कर सुपरचेतन-अतिचेतन की ओर आरोहण किया जाता है। तब ध्यान परिपूर्ण होता है। सचेतन मन की एकाग्रता को कई व्यक्ति साध लेते हैं। इससे आदमी के कर्म कुशलतापूर्वक होने लगते हैं। अर्जुन महावीर है-एकाग्रचित्त है पर ध्यान योगी नहीं, इसीलिए वह मन की चंचलता की बात बार बार कहता है। जब हम दूसरा कदम उठाते हैं-“फोकस इट

आन अनकांशस्” अर्थात् सचेतन को अचेतन पर केन्द्रित कर प्राणवान-सशक्त बनाना, तब हमें आंतरिक प्रसन्नता मिलती है। जब हम सुपरचेतन की ओर जाते हैं, तो हमें दिव्य रसानुभूति होने लगती है। कार्यकुशलता, प्रसन्नता, दिव्य रसानुभूति आत्मानुभूति—यह सभी ध्यान की फलश्रुतियाँ हैं। हमारा पात्र अर्जुन अभी एकाग्रता-कर्म कुशलता से भीतर नहीं जा पा रहा; क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ उसे चंचल बना रही हैं। यदि यह यात्रा पूरी हो जाय, तो उसे योगेश्वर के अमृत वचनों की अनुभूति अपने अंदर होने लगेगी।

पूज्यवर द्वारा बताए उपाय

परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा जी आचार्य के पास भी कई लोग अपनी जिज्ञासाएँ उसी प्रकार की लेकर आते थे। मन नहीं लगता, भागता है। पूज्यवर उसे उदीयमान सूर्य की पीतवर्णी किरणों में स्नान-अपने को ईंधन मानकर आग में समर्पण का भाव पैदा करने को तथा मानसिक गायत्री जाप करने को कहते थे। व्यक्ति-व्यक्ति के लिए उनके पास ध्यान की पद्धतियाँ थी। सबसे पहला सुझाव वे देते थे कि हम स्वाध्याय की वृत्ति विकसित करें, ताकि हमारा मन सतत श्रेष्ठ विचारों में स्नान करता रहे। इससे धारणा पक्की बनेगी और ध्यान टिकेगा। उनसे कभी किसी को निराश नहीं किया। किन्हीं को उनसे माँ गायत्री का, किसी को विराट आकाश का वा किसी को स्वयं उनका (गुरुदेव का) ध्यान करने को कहा। मन क्रमशः इससे एकाग्र हो सुपर चेतन की यात्रा करने लगता था, अब भी उनकी सूक्ष्म व कारण सत्ता पर ध्यान केन्द्रित करने से साधको को वही अनुभूति हो सकती है। सही बात यही है कि ९५ से ९९ प्रतिशत व्यक्तियों का चंचल मन पहला कदम तो पूरा कर लेता है— एकाग्रता का, पर अचेतन से सुपर चेतन की यात्रा नहीं कर पाता।

प्रमथनशील इन्द्रियाँ

यहाँ अर्जुन का प्रश्न यही है। हमें एकाग्रता से तल्लीनता-तद्रूपता-विसर्जन-विलय की ओर जाना है, परमात्म चेतना में स्नान करना है। अर्जुन जब अपनी बात कहते हैं, तो संभवतः यही कह रहे हैं कि हे नाथ! आप ही कृपा करके इस मन को खींचकर अपने में लगा लें, तो ही यह मन लग सकता है। मेरे अपने प्रयासों से तो यह वश में होना बड़ा कठिन है। मन जिद्दी है, बलवान है, चंचल है, प्रमाथि (भ्रमोत्पादक) होने के कारण ही यह मेरी स्थिति को बार-बार विचलित करता रहता है। (इससे पहले श्रीकृष्ण दूसरे अध्याय के साठवें श्लोक में कह चुके हैं-“इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः” २/६० अर्थात् प्रयत्नशील पुरुष के मन को भी ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं। संभवतः अर्जुन का यह प्रश्न इसी श्लोक से प्रेरित होकर पूछा गया है। “साधक संजीवनी” में स्वामी रामसुखदासजी महाराज कहते हैं कि जब कामना मन और इन्द्रियों में आती है, तब वह साधक को व्यथित कर देती है, साधक अपनी ध्यान की स्थिति फिर नहीं बना पाता। जैसे ही साधक मन से काम को निकाल देता है, मन की प्रमथनशीलता नष्ट हो जाती है।

सुनामी की प्रलयकारी लहरों का वर्णन जिनने पढ़ा है, एरेज्मा (उड़ीसा) के महाविनाश में जिसने देखा है, वह जानता है कि वायु का वेग कितना तीव्र होता है। विनाश का पुनर्निर्माण कितना मुश्किल है। कहीं ऐसा न हो कि अर्जुन का मन उस प्रवाह में बह जाए, इसीलिए वह स्थिति की गंभीरता को अपनी शब्दावली में श्रीकृष्ण के समक्ष व्यक्त करने का प्रयास कर रहा है। निःस्वार्थ सेवामय कार्यों जिनमें समर्पण भाव प्रमख है, द्वारा वासनाओं का क्षय किया जा सकता है, यह उसे बताया गया है। ध्यान साधना इसके बाद ही संभव हो सकती है। श्रीकृष्ण अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करते हैं।

श्रीभगवान उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६/३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ६/३६

हे अर्जुन (महाबाहो) [यह] मन (मनः) कष्ट से वशीभूत होने वाला तथा सदा चंचल है (दुर्निग्रहं चलम्), इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है (असंशयं) । किन्तु (तु) हे कुन्ती पुत्र (कौन्तेय) अभ्यास के द्वारा (अभ्यासेन) और वैराग्य से (वैराग्येण च) यह मन वशीभूत हो जाता है (गृह्यते) ।

असंयत व्यक्ति के द्वारा (असंयत आत्मना) योग की सिद्धि (योगसिद्धिः) दुष्प्राप्य है (दुष्प्राप्त), यह (इति) मेरा (मे) मत है (मतः) किन्तु (तु) शास्त्रविहित उपाय से (उपायतः) यत्नशील (यतता) संयतचित्त व्यक्ति के द्वारा (वश्यात्मना) [यह योगसिद्धि] प्राप्त हो सकती है (अवाप्तुम् शक्यः) । ६/३५, ६/३६

दोनों का भावार्थ है-

“हे महाबाहो ! निःसन्देह यह मन बहुत ही चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसको साधा जा सकता है ।”

“जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है (असंयमी व्यक्ति), ऐसे पुरुष द्वारा योग की प्राप्ति असम्भव है, ऐसा मेरा निश्चय है, किन्तु संयमित मन वाला व्यक्ति सम्यक् प्रयासों द्वारा इसे प्राप्त कर ही लेता है ।” (६/३५, ६/३६)

अभ्यास और वैराग्य साधे मन को

जब अर्जुन ध्यान योग की शक्यता के बारे में अपने संदेह व्यक्त करता है और कारण यह बताता है कि मानवी मन के अस्थिर और अशान्त स्वरूप के कारण यह संभव नहीं है, तो श्रीकृष्ण इसे एक चुनौती के रूप में लेते हैं और उसे तुरंत उत्तर भी देते हैं—कहते हैं कि तुम्हारा यह मत सही है कि मन निश्चित ही चंचल और कठिनता से वश में आने वाला है (असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्) किंतु निश्चित ही अर्जुन जैसा साहसी-महाबाहु मन पर विजय प्राप्त करने में समर्थ एक बहादुर योद्धा यह कार्य कर सकता है। एक दुर्बल मन वाला व्यक्ति इसे एक बहाना बनाकर मना भी कर सकता है व जीवन भर एक परजीवी जैसी जिन्दगी जीता है, किन्तु अर्जुन के लिये यह संभव है। आक्षेप स्वीकार कर लिया गया अतः अर्जुन शान्त हो जाता है, फिर श्रीकृष्ण आक्रामक होते हैं व कहते हैं कि हे कुन्ती पुत्र! इस मन को अभ्यास और वैराग्य से साधा जा सकता है। अभ्यास योग क्या है? जब-जब मन विषयों में भटके तब-तब उसे अपने ध्यान बिन्दु पर पुनः-पुनः वापस लाने का प्रयास किया जाय, अनवरत परिश्रम किया जाय-निरंतरता-नियमितता में कोई कमी न हो, तो यह संभव है। यही अभ्यास योग है। नियमित अभ्यास से अहं केन्द्रित कामनाओं में कमी होगी एवं उनसे मुक्ति पाने की इच्छा प्रबल होगी—यही वैराग्य है।

कैसे करें यह ?

अभ्यास योग की व्याख्या भगवान आगे “भक्तियोग” नामक बारहवें अध्याय (श्लोक ९) में करने वाले हैं। अभ्यास योग अर्थात् भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन, लीलाओं पर चर्चा-सत्संग, श्वास द्वारा जप और भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन पाठन इत्यादि चेष्टाएँ बार-बार करना ही अभ्यास कहलाता है। वे कहते हैं—अभ्यासयोगेन ततो माम् इच्छासुम् धनंजय- हे अर्जुन!

अभ्यास रूप योग द्वारा मुझ को प्राप्त होने के लिए इच्छा कर! (श्लोक ९, अध्याय १२)। अभ्यास का अर्थ है निरन्तर मन को परमात्मा-सद्गुरु-आध्यात्मिक चिन्तन में लगाए रखना। मन का अभ्यास फिर परमात्मा में स्थित होने का हो जाता है। वैराग्य का अर्थ है आसक्ति रहित कर्म। कर्मफल से वैराग्य ले लेना। जीवन जीते हुए गृहस्थ रहते हुए भी कोई आसक्ति किसी भी वस्तु-व्यक्ति आदि से न रखना, वरन् हमेशा स्वयं को याद दिलाना कि आत्मा की यात्रा एकाकी है। हमें उस यात्रा को महत्त्व देना चाहिए। आत्मिक प्रगति कर मोक्ष प्राप्ति जीवन-बंधनों से मुक्ति का प्रयास करना चाहिए। यही व्याख्या और विस्तार से अगले अंक में अर्जुन की नयी जिज्ञासाओं के साथ।



अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते

अभ्यास अर्थात् प्रभु के प्रति अनुराग

श्री भगवान् आत्मसंयम योग से भी पूर्व शुरु से स्थितप्रज्ञ की व्याख्या एवं उसके बाद के अध्यायों के श्लोकों में यह बात कहते चले आ रहे हैं कि अपने मन को परमात्मा में नियोजित करो। मन को सच्चिदानन्दघन परमात्मा में लगाने के लिए किये गये निरन्तर संपन्न प्रयास ही अभ्यास योग के अन्तर्गत आते हैं। “अभ्यास” में उनके प्रति भक्ति बढ़े-अनुराग बढ़ें-उनमें निरुद्धता हो, ऐसे सभी उपाय आते हैं। उनकी लीलाओं का चिन्तन, मनन-उनके लीला सहचर रूप सद्गुरु की अमृत वाणी का पठन पाठन-आध्यात्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय अभ्यास के अन्तर्गत ही आता है। यह प्रक्रिया शरीर, मन, वाणी से बार-बार की जाती है। विषयों का दोषदर्शन कराया जाता है। उनमें आसक्ति से होने वाली हानियों पर चिन्तन किया जाता है एवं बार-बार मन को आत्मा में लौटा लिया जाता है। आत्मा ही परमात्मा का अंश है, दिव्यताओं का घनीभूत केन्द्र है। इस प्रकार करते रहने से विषयों से निरासक्ति-वैराग्य का भाव उत्पन्न हो जाता है। भगवत्कृपा यदि हो तो यह संभव हो जाता है एवं मन आनन्दमय परमात्मा में तन्मय हो जाता है।

भगवान् दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ प्रकरण में कहते हैं- “साधक को चाहिए कि वह संपूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे पारायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है” (२/६१)। “जब ऐसा साधक अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है तो उसके संपूर्ण दुःख समाप्त हो जाते हैं और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है” (२/६५)। आगे चलकर श्रीकृष्ण इसे और स्पष्ट करते हैं। “मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा संपूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके

आशारहित, ममता रहित और सन्ताप रहित होकर युद्ध कर ३/३०'' । यहाँ जिस 'मैं' की बात श्रीकृष्ण कह रहे हैं- वह है हर मनुष्य के भीतर विद्यमान अन्तर्यामी परमात्मा । जब उसमें चित्त लगा तो योगी वैराग्य भाव से अपने सभी कर्मों का फल उन्हें अर्पित कर बिना किसी महत्वाकांक्षा या किसी प्रकार के लगाव या उद्धिग्रता के कार्य में निरत हो जाता है । यही संयमी साधक दिव्यकर्मी योगी की पहचान है । वह जानता है कि स्थूल शरीर से भी परे इन्द्रिय हैं । उनसे भी परे-श्रेष्ठ मन है, मन से परे बुद्धि है एवं बुद्धि से भी परे आत्मा है । यही आत्मा परमात्मा का निवास है । (३/४२)

परमात्म सत्ता में सतत निवास

आगे वे कहते हैं जो राग, भय और क्रोध पर विजय प्राप्त कर चुके हैं वे परमात्मा में ही प्रेम पूर्वक निवास करते हैं और ऐसे भक्त ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर परमात्मा के ही स्वरूप को । श्रीकृष्ण को प्राप्त हो चुके हैं (४/१०) । यहाँ मर्म भी यही है कि परमात्मा को प्राप्त होकर वह उन्हीं में निवास करता है पवित्रतम बन जाता है और इसके लिये उसे अभ्यास करना पड़ता है । वीतराग होने का, भय, क्रोध पर विजय प्राप्त करने का । परमात्मा का सतत चिन्तन इसे इस सिद्धि की प्राप्ति में मदद देता है ।

कैसे मिले वह पवित्र ज्ञान ?

बात अभ्यास और वैराग्य की ही चल रही है । भगवान इस संबंध में ज्ञान की महिमा चौथे अध्याय में बता चुके हैं एवं कह चुके हैं कि यह ज्ञान उसे तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर उन्हें समझने से, उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम करने से, उनकी निष्कपट सेवा एवं अपनी जिज्ञासा उनके समक्ष रखने से मिल सकेगा । आज यदि ऐसे ज्ञानियों का अभाव है तो उनके लिखे बहुत से ग्रन्थ-सत्साहित्य विद्यमान हैं, जिनका स्वाध्याय हमें परमात्म चिन्तन की ओर प्रेरित कर सकता है ।

परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने ऐसा साहित्य विपुल परिमाण में अपनी तीन हजार पुस्तकों के माध्यम से लिखा है जिन्हें एक विराट वाङ्मय के सत्तर खण्डों में क्रमबद्ध रखा गया है। उनके साहित्य के मनन-चिन्तन, लीलाओं का पठन पाठन भी हमें अभ्यास और वैराग्य की ओर ले जा सकता है। इस ज्ञान से व्यक्ति मोह को नहीं प्राप्त होता क्योंकि यह अति पवित्र है। पापी से पापी व्यक्ति भी इस ज्ञान रूपी नौका में बैठकर पाप समुद्र से भलीभाँति तर जाता है (४/३४, ४/३५ एवं ४/३६)। यह पवित्रतम ज्ञान अन्तःकरण को शुद्ध कर देता है और जितेन्द्रिय, तत्पर, श्रद्धावान व्यक्ति इसे सहज ही प्राप्त कर सकता है। इससे बिना विलम्ब के भगवत्प्राप्तिरूपी परम शान्ति मिलती है। (४/३८, ३९)

इसी संदर्भ में पंचम अध्याय में भगवान कहते हैं जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और संपूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता— अर्थात् वैराग्य भाव उसका सदैव बना रहता है। (५/७)। ज्ञान सबसे महत्त्वपूर्ण प्राप्त करने योग्य तत्त्व भगवान बताते हैं एवं वह भगवद तत्त्व को जाने बिना मिलेगा नहीं। चूंकि अज्ञान से ज्ञान ढंका हुआ है, जन्तुरूपी मनुष्य इसे पहचान नहीं पाता, सम्मोहित बना रहता है, किंतु यदि वह अज्ञान परमात्मा के तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया जाय तो वह ज्ञान सूर्य के समान सच्चिदानन्द घन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है। (५/१५, १६) उपचार एक ही है तद्रूपता— सच्चिदानन्दघन भगवान में ही एकीभाव से स्थिति। यही निरुद्धता है— समर्पण है— विलय है। यही योग का परम लक्ष्य है। (५/१७)। भगवान अपनी व्याख्या द्वारा अर्जुन को इसी दिशा में ले जाना चाह रहे हैं।

नियमित अभ्यास सतत ध्यान ही एक मात्र उपाय

अतः जब जब मन भटके, श्रीकृष्ण कहते हैं कि निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा मन को साधो। नियमित गंभीर अभ्यास से अहं केन्द्रित कामनाएँ कम होंगी तथा धीरे धीरे वे छूटती चली जाएँगी। वे कहते हैं कि नियमित अभ्यास से-परमात्मा में मन को निरुद्ध करने से-सतत ध्यान करते रहने से तथा अपने मन से उठने वाली कामनाओं-वासनाओं से त्याग ले लेने से मन को भली प्रकार साधा जा सकता है और उस पर मनुष्य का अपना पूरा नियंत्रण हो सकता है। (अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ६/३५ बी)। पहले भी भगवान इसी अध्याय में अर्जुन को बता चुके हैं-“आत्मैव ही आत्मनो बन्धुः आत्मैव रिपु आत्मनः”-अर्थात् यह अनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। यह यदि कोशिश करे तो अभ्यास और वैराग्यरूपी दो उपचारों से अपने मन-आत्मा को अपना मित्र-हितैषी बनाकर योगारूढ़ हो सकता है।

वैराग्य से आशय ?

वैराग्य की चर्चा, आसक्ति के त्याग, “संगंत्यक्त्वा”- तृष्णा-कामना-अहंता छोड़ने के रूप में उपदेश द्वारा योगेश्वर बार-बार कर चुके हैं। मनुष्य अपना स्वभाविक जीवन जिए पर मोहासक्ति किसी से न रखे। वे कह चुके हैं कि वही सच्चा संन्यासी-योगी-वैरागी है जो कर्म फल का आश्रय न लेकर, करने योग्य कर्म करता रहता है। निष्काम भाव से सतत कर्म-यही एक दिव्यकर्मी का धर्म होना चाहिए। यही सच्चा वैराग्य है। किसी को भी श्रीकृष्ण के कहे इस वाक्य का गलत अर्थ निकालकर घर बार नहीं छोड़ देना चाहिए। आप कहीं भी रहें पर निरासक्त भाव से रहें, मन में किसी के प्रति कोई राग न हो, न द्वेष हो, फिर भी सभी के प्रति आत्मवत् सर्वभूतेषु का भाव हो।

हे महाबाहो ! हे कौन्तेय !

एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए “महाबाहो” शब्द का प्रयोग किया है। वे कहना चाहते हैं कि योद्धा, वीर अर्जुन जिसने इतने युद्ध जीते हैं, आखिर क्यों अपने आंतरिक शत्रु से भयभीत होता है। इस पर तो उसे विजय प्राप्त करना चाहिए। यह उसकी शान के खिलाफ है कि वह इन सामान्य सी दिखने वाली आपदाओं से डर कर कह उठे कि उसका मन नहीं लगता क्योंकि मन बड़ा चंचल है, बलवान है, अदमनीय है। वायु रोकने के समान दुष्कर कार्य है यह। फिर वे उसे दूसरी ही पंक्ति में पुनः प्यार से संबोधित करते हैं—“कौन्तेय”—हे कुन्तीपुत्र ! तुम मुझे अत्यधिक प्रिय हो। भाव यह है कि मैं तुम्हें पूरा मार्गदर्शन दूँगा—तुम्हारी जिज्ञासा का समुचित समाधान करूँगा। क्योंकि तुम माता कुन्ती के पुत्र हो, मेरे प्रिय सखा एवं शिष्य भी हो। यदि मुझ पर विश्वास रखोते तो दीर्घकाल तक किये गए अभ्यास और वैराग्य से तुम अपने मन पर पूरा नियंत्रण कर सकोगे।

आगे वे कहते हैं कि यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि असंयमी व्यक्ति योग को प्राप्त नहीं होता किंतु संयमी व्यक्ति शास्त्रविहित उपायों से निश्चित ही अपने मन पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है (श्लोक क्रमांक ३६)। जिस किसी भी साधना पथ पर चलने वाले ने कर्मयोग के अभ्यास द्वारा अपनी वासनाओं का क्षय नहीं किया, वह कभी भी अपने मन को वश में नहीं कर सकता और इस तरह उसे कभी भी ध्यान योग में सफलता नहीं मिल सकती। किंतु ठीक इसके उलटे यदि किसी ने विषयों—भावोद्वेगों—आकर्षणों से अपने को उपरत कर लिया है तो वह गहन ध्यान कर सकता है और उसे सफलता भी मिलती है (किंतु) उपायतः (शास्त्र विहित उपाय से) यतता (यत्नशील) वश्यात्मना (संयम चित्त व्यक्ति के द्वारा) [वह योग सिद्धि] (प्राप्त हो सकती है) अवाप्तुम शक्य।।” ६/३६ बी

संयम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

कितना स्पष्ट आश्वासन व मार्गदर्शन है। भगवान चाहते हैं कि अर्जुन मन की चंचलता का कारण समझे। क्षणिक विषयभोगों की अंधाधुंध भगदड़ से इन्द्रियों को रोका जाना चाहिए। मन को निरर्थक-थका देने वाली भटकनों से संयमित किया जाना चाहिए। बुद्धि को कामोद्वेगों के फन्दों से पूरी तरह मुक्ति दी जानी चाहिए। यह योग की परमावश्यकता है। जब तक इस बहिरंग की भगदड़ को रोका न गया, जब तक शरीर, मन, बुद्धि को शान्त न कर लिया गया, तब तक ध्यान द्वारा मन को प्रगाढ़ भावदशा में ले जाना संभव नहीं। ध्यान कोई हँसी खेल नहीं। अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान इसी कारण सफल नहीं होता। हमारा अंतः सामंजस्य परिपूर्ण हो-यह हम धैर्यपूर्वक देखलें-उसकी व्यवस्था बनायें तो ध्यान एक कीमिया का काम करता है। एक रसायन की तरह हमें आमूलचूल बदल डालता है। भगवान का स्पष्ट मत है कि जो अपने जीवन में संयम का परिपूर्ण पालन कर रहा है और सम्यक प्रयास कर रहा है-शास्त्रविहित उपचारों के अनुरूप जीवन जी रहा है, उसके लिये सफलता सुनिश्चित है। उसे सफलता मिलेगी ही। संयम के साथ ही इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात है धैर्य। अभ्यास एवं वैराग्य का पालन धीरज के साथ करना पड़ता है। कई व्यक्ति ध्यान न लगाने, जल्दी परिणाम न मिलने से ध्यान बीच में ही छोड़ देते हैं। धैर्यपूर्वक यदि अभ्यासरत हुआ जाय तो श्रीकृष्ण का आश्वासन सही ही सिद्ध होता है कि संयमी व्यक्ति सम्यक प्रयासों से इसे प्राप्त कर लेता है, उसे योसिद्धि मिलकर ही रहती है।

ध्यान सिद्धि के स्वर्णिम सूत्र

अब यहाँ संक्षेप में श्रीकृष्ण भगवान के द्वारा गूढ़रूप में ३५ वें एवं ३६ वें श्लोक में जो बातें कही गयी हैं- उन्हें बिन्दुवार समझ लेते हैं।

(१) ध्यान योग में मन की चंचलता स्वाभाविक है। मन का निग्रह

करना उतना आवश्यक नहीं, जितना उसे वश में करना अर्थात् चित्तशुद्धि। इससे तात्पर्य है, मन में विषयों का राग न रहना। इतना कर लिया तो प्रयत्न करने पर ध्यान सिद्ध हो जाएगा।

(२) वस्तुतः मन की चंचलता ध्यान में इतनी बाधक नहीं है। इसके विपरीत सबमें भगवद्बुद्धि न होना (श्लोक ३१) और राग द्वेष का होना बाधक है। चित्तशुद्धि होते ही रागद्वेष चले जाते हैं, मन परमात्मा में निरुद्ध होने लगता है। सभी में भगवान दिखाई देते हैं।

(३) जब भगवान अभ्यास की चर्चा करते हैं तो उसका आशय है जहाँ जहाँ मन भागे वहाँ वहाँ हम अपने इष्ट-लक्ष्य को देखें। वह इष्ट हमारा आदर्शों का समुच्चय परमात्मा ही है।

(४) अभ्यास के साथ श्रद्धा, विश्वास, निरन्तरता एवं नियमितता ये चार चीजें जरूरी हैं। कभी ध्यान लगाया कभी नहीं-यह ठीक नहीं। रोजाना समय लगाया जाय, नियत चिंतन प्रवाह में मन को नहलाया जाय एवं यह क्रम कभी टूटने न पाए। प्रयास यही हो कि मन संसार से हटकर परमात्मा में लगे। दूसरा कुछ भी चिन्तन आ जाय तो उसकी उपेक्षा कर दें।

(५) भगवान के नाम का जप भी किया जा सकता है, मंत्र जप भी किया जा सकता है अथवा किसी धारणा पर ध्यान टिकाया जा सकता है। इसके अलावा अपने इष्ट, आराध्य, परमात्मा-श्रीकृष्ण, श्रीराम, भगवान शिव अथवा अपने सद्गुरु का भगवान रूप में चिन्तन भी किया जा सकता है। भगवान को सौन्दर्य का समुच्चय मानकर उनके संपूर्ण अंगों का-उनकी विशेषताओं का-उनकी लीलाओं का स्मरण व चिन्तन करना चाहिए।

(६) वैराग्य अभ्यास की सहायता के लिए है। संसार के भोगों से राग जितना हटेगा, मन उतना ही परमात्मा में लगेगा। रागों के प्रति आसक्ति सर्वथा हटने पर मन में संसार का कभी भी रागपूर्वक चिन्तन

नहीं होगा। प्रारब्धवश पुराने संस्कार कभी प्रबल हो भी जायँ तो साधक उनकी उपेक्षा कर दे।

(७) निरन्तर चिन्तन करते रहें, यहाँ सभी कुछ तो परिवर्तनशील है। कल हम बालक थे-युवा हुए और अब हम और आयु में बढ़ रहे हैं। हमारी आत्मिक प्रगति ही सब कुछ है। वह हुई कि नहीं। इसके लिए प्रयास हुआ कि नहीं। क्या जाने कब मृत्यु आ जाय। ऐसा बार-बार चिन्तन करने से वैराग्य का भाव मन में आता है-आसक्ति छूटती है।

(८) किसी से कुछ भी अपेक्षा न रखें। बार-बार मन को विशुद्ध न होने दें। अपनी आध्यात्मिक यात्रा पर बारम्बार चिन्तन करें। अपेक्षा रखने से राग पैदा होता है- न पूर्ति होने पर द्वेष और फिर मन भटक जाता है। राग रहित जीवन में ही शान्ति मिलती है, यह ध्यान रखें।

(९) परम पूज्य गुरुदेव ने चार प्रकार के संयम बताये हैं जिन पर विशेष महत्त्व योगेश्वर ने ३६वें श्लोक में दिया है। इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम एवं विचार संयम। सभी महत्त्वपूर्ण हैं पर यदि विचार संयम सध गया तो जीवन साधना पूर्णतः निभ जाएगी। स्मरण रखें कि यह जीवन साधना कुछ मिनटों-घण्टों की नहीं-चौबीस घण्टे की होती है। पूर्णतः मन को विचारों को भगवत्ता रूपी सैटेलाइट से जोड़े रहना ही संयम की कुंजी है।

अर्जुन के तर्कों का खण्डन कर दिया गया किंतु योग पर आरूढ़, युद्ध क्षेत्र में अपनी जिज्ञासा रख रहे इस महावीर किंतु विद्यार्थी के मन में और भी शंकाएँ हैं। कुछ अपने संबंध में कुछ योगक्षेत्र में कदम रखने के बाद भी देखें जाने वाले पतन के विषय में। इनकी चर्चा जुलाई अंक में करेंगे।



कल्याणकारी कार्य करने वाले साधक की कभी दुर्गति नहीं होती

अर्जुन की पुनः उठी जिज्ञासाएँ

अर्जुन की तथ्यान्वेषी प्रज्ञा को भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर बड़ा ही सही लग रहा है किंतु उसके मन में फिर शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं और वह उनके विषय में प्रश्न करने लगता है—

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ६/३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ६/३८

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ६/३९

पहले इन तीनों का शब्दार्थ देखते हैं:—

अर्जुन ने कहा—

“हे कृष्ण (कृष्ण) श्रद्धायुक्त होकर योगाभ्यास में प्रवृत्त (श्रद्धया उपेत) यत्नहीन व्यक्ति (अयतिः) योग से (योगात्) चंचल चित्त होने से (चलितमानसः) योगसिद्धि न पाकर (योग संसिद्धि अप्राप्य) किस (कां) गति को (गतिं) प्राप्त होते हैं (गच्छति)?” ६/३७

“हे महाबाहो श्रीकृष्ण (महाबाहो) ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग से विचलित (ब्रह्मणः पथिविमूढः) निराश्रित (अप्रतिष्ठः) स्वर्ग और मोक्ष दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर (उभय विभ्रष्टः) वह (सः) छिन्न भिन्न मेघखण्ड

के समान (छिन्न-अभ्रम इव) क्या विनष्ट नहीं हो जाता (न नश्यति कच्चित) ?” ६/३८

“हे कृष्ण (कृष्ण) [तुम्हीं] मेरे (मे) इस (एतत्) सन्देह को (संशयं) पूर्णतया (अशेषतः) छेदन करने में (छेतुम्) समर्थ हो (अर्हसि) क्योंकि (हि) तुम्हारे अतिरिक्त (त्वदन्य) इस (अस्य) सन्देह का (संशयस्य) छेदक (छेत्ता) और कोई योग्य नहीं है (न उपपद्यते)।” ६/३९

योगभ्रष्ट की क्या होती है स्थिति

अब तीनों का भावार्थ प्रस्तुत है-

“हे कृष्ण ! जो साधक योग में श्रद्धा रखने वाला तो है किन्तु संयमी नहीं है तथा जिसका मन योग से भटक गया है, वह योग की सिद्धि ध्यान योग को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है ?”

“हे महाबाहो! क्या वह ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में मोहित तथा आश्रयरहित हुआ दोनों और से भ्रष्ट होकर छिन्न भिन्न बादल की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता है ?”

“हे कृष्ण-मेरे इस संशय को संपूर्ण रूप से छेदक करने में आप ही समर्थ हैं। आपके बिना मुझे दूसरा कोई नहीं दिखाई देता जो मेरे इस संशय का निवारण कर सके।” (६/३७, ३८, ३९)

योग में पतन किसी साधक के जीवन की एक सबसे दुखद दुभाग्यपूर्ण दुर्घटना है। अर्जुन योग की सारी व्याख्या समझने के बाद अपने आपके विषय में सोचता है, साथ ही अन्य योग साधकों के बारे में कि उनकी क्या स्थिति होगी, भविष्य क्या होगा जो संयम का पालन भलीभाँति न कर पायें, भले ही श्रद्धा पूरी रखते हों किन्तु जिनका मन योग से भटक गया हो। उनकी गति क्या होगी। क्या वे दुर्गति को प्राप्त होंगे, जबकि चले श्रेष्ठ कार्य के लिए थे किंतु मार्ग में भटक गए-संयम-अनुशासन आदि का यथोचित पालन न कर पाए।

श्रद्धा एवं संयम

श्रद्धा का अर्थ है आदर्शों के प्रति परिपूर्ण निष्ठा। परम पूज्य गुरुदेव द्वारा दी गई परिभाषा है आदर्शों से-सत्प्रवृत्तियों से-श्रेष्ठताओं से असीम प्यार। श्रद्धा कोरा विश्वास नहीं-कोई मान्यता नहीं किंतु एक दृढ़ विश्वास है जो पवित्र ज्ञान पर टिका है। अध्यात्म के क्षेत्र में “श्रद्धा” का अत्यधिक महत्व है। इसी पर सब टिका है। ऐसे में अर्जुन की शंका है कि किसी साधक की योग में श्रद्धा तो है पर वह किसी कारण वश संयम का परिपूर्ण पालन नहीं कर पा रहा है। परम पूज्य गुरुदेव ने चार प्रकार के संयम बताए हैं-समय संयम, अर्थ संयम, इन्द्रिय संयम, विचार संयम। साधकों की दृष्टि से अंतिम दो संयम अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि रसना पर नियंत्रण नहीं है- आहार अत्यधिक एवं तमोगुण-रजोगुण प्रधान लिया जाता है तो कामेन्द्रियाँ भी भड़क जाती हैं। कामुक विचार बादलों की तरह मनःपटल पर आच्छादित रहते हैं। शारीरिक ब्रह्मचर्य भले ही सध रहा हो पर मानसिक ब्रह्मचर्य न सध पाने से वह भी गड़बड़ा जाता है। इसके लिये वे विचार भी जिम्मेदार हैं जो हम विचार करने की कला न जानने के कारण आमंत्रित करते रहते हैं। ये निषेधात्मक, अवसाद जनक भी होते हैं तथा कामुक, उत्तेजक भी। किसी भी साधक को इनसे दूर ही रहना चाहिए। संयम सध गया तो फिर श्रद्धावान योगी योग की चरमसिद्धि को प्राप्त होता है। अर्जुन का प्रश्न है कि यदि यह संयम नहीं सधा तो ऐसा तो नहीं कि वह नष्ट हो जाता हो। उसने बादलों का उदाहरण देकर अपनी बात कही है। “न घर के रहे न घाट के” की उक्ति की तरह वह ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में भटक कर दोनों ओर से लौकिक एवं आध्यात्मिक मार्ग से वंचित होकर कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता, यह जिज्ञासा अर्जुन की है। वह यह भी मानता है कि श्रीकृष्ण जैसे जगद्गुरु से श्रेष्ठ और कोई नहीं है जो उसके इस संदेह का निवारण कर सके।

कहीं साधक नष्ट तो नहीं हो जाएगा ?

पूर्ण श्रद्धा होने पर भी एवं ध्यान के सभी पक्षों-उनके भावों को समझ लेने पर भी कोई भी व्यक्ति मन के उद्धत-अशान्त-असंयत स्वभाव के कारण नीचे गिर सकता है। ध्यानावस्था को प्राप्त न होकर संभव है वह अधोगति को प्राप्त हो, ऐसी शंका अर्जुन को है। ऐसी स्थिति में (अप्राप्य योग संसिद्धिं) योगसिद्धि को न प्राप्त कर कहीं साधक का सर्वनाश तो नहीं हो जाएगा- अर्जुन इस जिज्ञासा को अपनी गुरुसत्ता के समक्ष रखता है। फिर पुनः “महाबाहो” संबोधन देकर कह उठता है कि ऐसा आश्रयरहित मनुष्य जो भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर चला था-मोहित होकर, सूक्ष्म वासनाओं से प्रभावित होकर कहीं छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता। मन की व्यग्रताओं के कारण ध्यान के शिखरों से गिरकर जो भी कुछ धीरज के साथ उसने पाया था, उस समुच्चय को वह कहीं खो तो नहीं बैठेगा ? “छिन्ना भ्रमिव” कहीं वह पूर्णतः नष्ट तो नहीं हो जाएगा ? योग से भ्रष्ट होकर ऐसे साधक का जीवन कहीं बिना कोई सद्परिणाम उत्पन्न किए एक आत्मघाती संघर्ष ही बनकर न रह जाये ? और भी अपनी बात को स्पष्ट कर अर्जुन कहता है कहीं वह दोनों ओर से न गिर जाए-“उभयविभ्रष्टः”-जीवन रेगिस्तान की तरह शुष्क हो जाए। न वह इन्द्रियजगत के सुखों को भोग सके, न ही सिद्धि का आनन्द प्राप्त कर सके। ऐसे में तो उसका जीना एक प्रकार से निरर्थक ही कहा जाएगा। यदि मात्र थोड़ा सा असंयम बरतने पर इतना बड़ा खतरा है तो फिर कौन योग के मार्ग पर चलना चाहेगा। अर्जुन को योग बहुत खतरनाक एवं असंभव सा लगने वाला पथ प्रतीत होने लगा है।

भगवत्ता पर विश्वास रखने वाला शिष्य

एक विनम्र शिष्य की तरह अर्जुन दो श्लोकों में अपनी जिज्ञासा सामने रखकर अपेक्षा रखता है कि उसके गुरु जो जगद्गुरु कहलाते हैं,

उसका मार्गदर्शन करेंगे। शुरू से अभी तक श्रीकृष्ण के मुख से उसने जो स्पष्ट अभिव्यक्ति धर्म-योग-कर्म-ध्यान की सुनी है, उसे देखते हुए उसे उसकी जिज्ञासा का उत्तर देने वाला श्रेष्ठतम शिक्षक एक ही नजर आता है। वह है श्रीकृष्ण। एक साधक की यह गहन आध्यात्मिक जिज्ञासा है। शास्त्र की कोई गुत्थी हो, कोई गहन विषय हो तो शास्त्रों का ज्ञाता एक विद्वान भी समझा सकता है परन्तु योग भ्रष्ट की क्या गति होगी, यह तो योगेश्वर स्तर की -युक्तयोगी सत्ता ही बता सकती है, ऐसा अर्जुन भलीभाँति समझता है। एक योगी उतना ही जानता है जहाँ तक उसने योग का अभ्यास किया है परन्तु अर्जुन की दृष्टि में श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान हैं, बिना अभ्यास-श्रम के सर्वत्र सब कुछ जानने वाले अन्तर्यामी सच्चिदानंद घन परब्रह्म परमात्मा हैं, संपूर्ण प्राणियों की गति-अगति को जानने वाले हैं। इसीलिए वह उनसे अपेक्षा रख रहा है। अर्जुन को भगवत्ता पर विश्वास है इसीलिए वह योगभ्रष्ट की गति संबंधी जिज्ञासा उन्हीं के समक्ष रखता है। इसी विश्वास के कारण अर्जुन ने महाभारत आरम्भ होने से पूर्व एक अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेना को छोड़कर निःशस्त्र भगवान को स्वीकार किया एवं उन्हें अपना सारथी बनाया।

अब संसार और योग साधन से च्युत हुए साधक का कहीं पतन तो नहीं हो जाता, इस विषय पर भगवान आगे के चालीसवें श्लोक में अपना मन्तव्य देकर सभी आशंकाओं को निर्मूल कर देते हैं। वे अगले श्लोक में अर्जुन की “कां गतिं कृष्ण गच्छति” का उत्तर देने से पहले अर्जुन की व्याकुलता मिटा देते हैं।

श्री भगवान उवाच-

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६/४०

श्री भगवान ने कहा-

हे पृथानन्दन (पार्थ) उस साधक का (तस्य) न तो (न) इस लोक में (इह) [और] न (न) परलोक में (अमुत्र) ही (एव) विनाश (विनाशः) होता है (विद्यते), क्योंकि (हि) हे प्यारे (तात) कल्याणकारी काम करने वाला (कल्याणकृत्) कोई भी मनुष्य (कश्चित्) दुर्गति को (दुर्गतिम्) नहीं (न) जाता-प्राप्त होता (गच्छति)।

भावार्थ हुआ- “हे पार्थ! उस पुरुष का न तो इस लोक में नाश होता है और न परलोक में ही। क्योंकि हे प्रिय! आत्मोद्धार के लिए कर्म करने वाले अर्थात् कल्याण मार्ग पर चलने वाले पथिक की कभी दुर्गति नहीं होती।”

एक आशावादी घोषणा

घबराया हुआ अर्जुन सांत्वना पाता है जब वह सुनता है कि योगभ्रष्ट साधक का सर्वथा नाश नहीं होता। चूँकि वह कल्याण मार्ग पर चला है, उसकी दुर्गति नहीं होती। एक आशावादी स्पष्ट घोषणा है श्रीकृष्ण की-“न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति”। — कल्याण मार्ग पर चलने वाला एक साधना पथ का पथिक कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। यह एक प्रकार से ईश्वरीय आदेश है। सदाचारमय जीवन जीकर हम हमारे संपूर्ण भूतकाल को धो सकते हैं एवं भविष्य के लिए नए बीज बो सकते हैं हम घोर पापी से भी पापी क्यों न हों, एक बार दृढ़ निश्चय कर लें तो हमारा जीवन ऊपर उठने लगेगा। यह लोक भी सुधरेगा एवं परलोक में निश्चित ही सद्गति का पथ प्रशस्थ होगा।

रूपान्तरण हमारे हाथ में

आज हम जो भी कुछ हैं, अपने भूतकाल के कारण हैं। जो भी हमने अच्छे बुरे कर्म किए हैं, वे वर्तमान में फलित हो रहे हैं। यह

रूपान्तरित भूत है जो हमारे वर्तमान के रूप में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। यदि हमारे साथ हमारी भूत की वासनाओं-कुकर्माँ-चिंतन जन्य कुसंस्कारों का समुच्चय भी हो तो हम सदाचार मय जीवन जीकर ध्यानयोग-कर्मयोग द्वारा उसकी दिशा बदल सकते हैं। उसका रूपान्तरण आमूलचूल रूप में कर सकते हैं। हो सकता है कि इस जीवन में परम पद न मिले और मृत्यु को हम प्राप्त हो जायें तो हम भूतकाल का फल पायेंगे। शुभ का बैंक एकाउन्ट निरर्थक नहीं जाएगा। वह हमारे भविष्य का स्वरूप बनाने हेतु काम आएगा।

सच्चे हृदय से जो साधना करता है-उस मनुष्य का कभी पतन नहीं होता न इस जनम में-न मरने के बाद ही। योग में जिस सीढ़ी तक वह पहुँच गया है, उससे नीचे वह नहीं गिरता। अनादिकाल से वह जन्म लेता रहा है, मरता रहा है पर उसका पतन नहीं होता। इसलिये योग मार्ग पर चलने वाले पथिक को कभी रुकना नहीं चाहिए। कभी भटक भी गए हों तो पुनः सदाचार का पथ अपनाकर अपनी रुकी हुई यात्रा को आगे बढ़ाते रहना चाहिए।

भरत का पुनः जन्म पशु योनि में

श्रीमद्भागवत् (स्कन्ध पाँच, सप्तम अष्टम अध्याय) में भरत के संबंध में एक प्रसंग आता है। भरत मुनि भारत वर्ष का राज्य छोड़कर एकान्त में तप कर रहे थे। अकारण ही वहाँ उनकी एक हरिण के बच्चे से आसक्ति हो गयी। इसी वजह से दूसरा जन्म उनका हरिण का हुआ। पर उनकी त्याग, तप, साधना की पूंजी जो जमा थी वह उस जनम में भी नष्ट नहीं हुई। उन्हें उस जन्म में भी पूर्व जन्म की बात याद रही जो कि मनुष्य जन्म में भी सामान्यतः नहीं रहती। अतः वे हरिण योनि में अपनी माँ के साथ न रहकर सूखे पत्ते खाकर वन में रहे। भोग भोगा एवं पुनः जन्म लेकर अंतिम लक्ष्य तक पहुँचे। पूर्व जन्म के स्वभाव-सुसंस्कार नष्ट नहीं होते। इस जन्म के सुसंस्कार भी हमें निश्चित ही इस

व भविष्य के जन्म में काम ही आयेंगे। यह उदाहरण हम सबके लिए प्रेरणादायी है।

साधक की दुर्गति नहीं होती सुसंस्कार बने रहते हैं।

भगवान कहते हैं कि साधक की कभी दुर्गति नहीं होती यदि वह सच्चे हृदय से उस पर चला है। जो मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जी रहा है, सांसारिक भोगों में जिसकी आसक्ति तनिक भी नहीं है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होगी। चूंकि उसका ध्येय तत्त्व स्वयं साक्षात् परमात्मा हैं। वे उसका सतत ध्यान रखते हैं। भगवान कहते हैं “न में भक्तः प्रणश्यति”—मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता—कभी मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। वही आश्वासन यहाँ भगवान अप्रत्यक्ष रूप से दे रहे हैं। जिस व्यक्ति के भीतर एक बार साधना के संस्कार पड़ गए वे बीज रूप में फलित होने लगते हैं, फिर कभी नष्ट नहीं होते। कोई भी भोगवादी संसार के प्रवाह में बह सकता है—कुसंग से किसी असावधानी से परंतु उसकी पूर्व की जो साधना की पूंजी है वह छूटती नहीं—वही उसे पुनः भगवान के पथ पर जाने को प्रेरित करती है। साधक को हर पल सावधान रहना चाहिए कि कहीं यह दुर्घटना उससे घट न जाए। अर्जुन योगभ्रष्ट की गति जानना चाहता है तो वह भगवान अगले श्लोकों में बताते हैं, जिसकी चर्चा हम अगले अंक में करेंगे।



भविष्य में हमारी क्या गति होगी, हम स्वयं निर्धारित करते हैं

योगभ्रष्ट की गति

भगवान आगे कहते हैं—

प्राप्त पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ६/४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ६/४२ ॥

पहले शब्दार्थ देखते हैं—

योग से भ्रष्ट व्यक्ति (योगभ्रष्टः) पुण्यवानों के (पुण्यकृतां) लोकों को (लोकान्) पाकर (प्राप्य) अनेक (शाश्वतीः) वर्ष (समाः) वहाँ निवासकर (उषित्वा) पवित्र पुण्यात्मा (शुचीनां) सम्पन्न व्यक्तियों के (श्रीमतां) घर में (गेहे) जन्म ग्रहण करते हैं (अभिजायते) । ६/४१

अथवा (अथवा) ज्ञानी (धीमतां) एवं योगियों के ही (योगिनां एव) वंश में (कुले) जन्म ग्रहण करते हैं (भवति) इस प्रकार का (ईदृशम्) जो (यत्) यह जन्म है (एतत् जन्म)– [वह] इस संसार में (लोके) निस्सन्देह (हि) बहुत ही दुर्लभ है (दुर्लभतरं) । ६/४२

भावार्थ इस प्रकार हुआ—

“योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मियों के लोकों को प्राप्त होकर और वहाँ शाश्वत समय तक निवास करके फिर पवित्र शुद्ध आचरण वाले सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में जन्म लेता है। अथवा बुद्धिमान योगियों के कुल में वह जन्म लेता है। (चूँकि वैराग्य की ओर उसका रुझान होता है) परंतु इस प्रकार का जो जन्म है, वह संसार में निस्सन्देह अत्यन्त दुर्लभ होता है । ६/४१-४२”

एक श्रेष्ठ मार्ग पर चले महापुरुष की योगभ्रष्ट होने पर भविष्य में क्या गति होती है, इस संबंध में ही स्पष्ट चिन्तन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत किया है जो भी किसी साधक ने कल्याणकारी कार्य आरंभ किया था, वह निरर्थक नहीं जाता, उसके सत्परिणाम उसे मिलते अवश्य हैं एवं वे भविष्य के उसके जन्म में फलित होते हैं।

पूर्व के संस्कार फलित होते हैं

एक आशा की किरण अभी भी विद्यमान है। यदि कोई योगपथ का पथिक परमपद न पा सका और मृत्यु को प्राप्त हो गया, तो उसने जो भी कुछ शुभ किया है, वह नितान्त निरर्थक नहीं जाता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि चूँकि उसका मन विषयों की ओर आकर्षित था-वह मन का पूरी तरह निग्रह नहीं कर सका, अतः वह पूर्व के कुसंस्कारों के कारण शाश्वत समय पुण्यकर्मियों के लोकों में वापस कर पवित्र व संपन्न व्यक्तियों के घर में पुनः जन्म लेता है। योगभ्रष्ट योगी एक लम्बे समय तक भोग भोगने के बाद पुनः शरीर धारण करता है- वह भी ऐसे उपयुक्त वातावरण में कि योग साधना की प्रक्रिया को पुनः वहीं से आरम्भ कर सके, जहाँ उसने छोड़ा था।

पुनर्जन्म लेने वाले योगभ्रष्ट साधक के अंतःकरण में कुछ विषय वासनाएँ ऐसी होती हैं जिनका क्षय उसके द्वारा सम्पन्न व्यक्तियों के घर में (श्रीमतां गेहे) जन्म लेकर ही हो सकता है। एक और विकल्प योगेश्वर देते हैं कि “अथवा वह बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेता है। (चूँकि वैराग्य का प्रतिशत उसके चिन्तन में ज्यादा होता है), किंतु ऐसा जन्म अत्यन्त दुर्लभ होता है। सूक्ष्मशरीर स्वर्गलोक जाकर लौट आता है और अपने लिए अनुकूल वातावरण ढूँढ़ता है। निरन्तर ध्यान साधना में लीन होता हुआ वह एक विद्वान पिता के महान पुत्र के नाते अपनी बाल्यावस्था से ही साधना प्रारंभ कर अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है। किंतु श्रीकृष्ण का बड़ा गंभीरता पूर्वक दिया गया मत

है कि ऐसा जन्म संसार में अत्यन्त दुर्लभ है (एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्)। ऐसे जन्मजात व्यक्ति बुद्ध, यीशु, शंकराचार्य, शुकदेव की तरह विरले ही होते हैं।''

निष्कर्ष यही निकलता है कि आध्यात्मिक साधना के निमित्त किया गया पुरुषार्थ कभी निरर्थक नहीं जाता। नियमितता, निरन्तरता यदि ध्यान की बनी रहे, तो भले ही कुछ चमत्कार तुरंत न दिखाई दें—भीतर क्रांति अवश्य होगी। सूक्ष्म स्तर पर उसका फल निश्चित ही दिखाई देगा। किसी की प्रगति जल्दी होती है इसी जन्म में होती है एवं मुक्ति मिल जाती है तथा किसी को देरी से मिलती है। परन्तु अर्जुन के पूछे गए प्रश्न की तरह किसी का भी छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति नाश नहीं होता। अर्जुन के सन्देह का यथोचित समाधान श्रीकृष्ण ने दिया है; ताकि वह या उसके जैसा कोई साधक कभी साधना क्षेत्र में विघ्न आने पर निराश न हो।

मृत्यु: एक सृजन पर्व

भारतीय संस्कृति में जीवन-मरण सहज स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं। मृत्यु को एक त्यौहार माना गया है और यही कहा गया है कि एक अध्याय समाप्त होकर दूसरा आरंभ हो गया। परलोक सुधारने की बात भी स्थान स्थान पर कही गयी है। बालक-युवा होता है-प्रौढ़ होता है-मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी तरह मृत्यु के बाद भी जीवन बना रहता है-आत्मा की यात्रा निरन्तर जारी रहती है- पूर्व के संस्कारों को लेकर वह निर्बाध गति से चलती रहती है। भूत से वर्तमान एवं यही प्रवाह भविष्य के निकास के रूप में-जीवन के आयाम हैं। मृत्यु तो एक घटना भर है, जिसने उस जीवन की लीला का पटाक्षेप कर दिया। सूक्ष्म शरीर अपनी संस्कार युक्त अनुभवों से भरी ज्ञान की निधि को लेकर चल रही यात्रा पर अनवरत चलता रहता है। उसका यह निरन्तरता का नियम कभी टूटता नहीं। इसलिए किसी भी साधक या योगी या शुभ कल्याणकारी

कार्य करने वाले को अपने शुभ कर्मों के फल के प्रति शंकालु नहीं होना चाहिए। वे इस शरीर के नष्ट होने से नष्ट नहीं हो जाते। वे सतत यात्रा करते रहते हैं एवं भविष्य की गति का निर्धारण होने के साथ फलित होते हैं।

कई बार योगभ्रष्ट शब्द जो श्लोक ४१ में आया है, गलत समझ लिया जाता है। इससे अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि वह व्यक्ति योग से च्युत हो गया अब कभी उठ नहीं पाएगा। या योग में भ्रष्ट आचरण उसके द्वारा हो गया। इसका अर्थ जो यहाँ है, वह यह कि वह साधक योग सिद्धि की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच सका। बीच में मन विचलित हो गया। थोड़ा बहुत शुभ कर्म तो उससे अवश्य हुआ। निर्वाण या मुक्ति से पूर्व प्रत्येक योग साधक अपने-अपने भले कर्मों के फलानुसार उच्च लोकों को प्राप्त होते हैं और पुण्य क्षय होते ही फिर मुक्ति लाभ हेतु अनुकूल घरों में जन्म लेते हैं। पुनः साधना करते हैं और ईश्वर की कृपा से निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। पुण्यवान के पुण्य कर्मों का एक छोटा सा हिस्सा भी व्यर्थ नहीं जाता। सभी कर्मों का फल उसे मिलता है।

गायत्री परिजनों के दायित्व

कभी कभी हम सभी जो गायत्री परिवार में परम पूज्य गुरुदेव का कार्य कर रहे हैं-विद्या विस्तार के पुण्य प्रयोजन में लगे हैं अथवा विचार क्रांति के लक्ष्य की पूर्ति हेतु विभिन्न रचनात्मक कार्यों में स्वयं को नियोजित करते हैं, सोचने लगते हैं कि हमसे तो पूर्ण नियमादि का पालन कर संयमादि अनुशासनों को निभाकर कड़ी साधना हो नहीं पायी। हमें क्या फल मिलेगा? क्या हम भी कभी मुक्ति पा पाएंगे। कभी एकान्त साधना, विशिष्ट तप, क्रिया तो हम कभी कर नहीं पाए-हम तो झोला पुस्तकालय लेकर लोगों तक गुरुसत्ता के विचार पहुँचाते रहे-नियमित रूप से मात्र तीन या पाँच माला गायत्री की करते रहे, वह भी

कभी मन लगता रहा, कभी नहीं लगा। हमें क्या फल मिलेगा। योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुँह से जो एक शाश्वत वचन निकला है, उसी को हम पूज्यवर का आश्वासन भी मान सकते हैं। परम पूज्य गुरुदेव का कार्य युग निर्माण का महती कार्य है—एक अवतारी चेतन सत्ता द्वारा किया जा रहा कार्य। इसके लिए किया गया छोटा-सा पुरुषार्थ भी हमें पुण्यकर्मों के संचय की ओर ले जाता है। जितना हम करते जाते हैं, उतना ही अच्छे कर्मों का कोष एकत्र होता चला जाता है। इस जन्म में तो नहीं अगले जन्म में निश्चित ही उस पुण्य सम्पदा के सहारे हम भवबंधनों से मुक्त हो जायेंगे। यह आश्वासन हमें सुनिश्चित मानना चाहिए। हमें यह याद रखना है कि हम किस स्तर की सत्ता से जुड़े हैं—वही जो समय-समय पर “संभवामि युगे युगे” का अपना आश्वासन पूरा करने आती रही हैं। ऐसे में हमें कार्य करने का अवसर मिला, यही सौभाग्य अपना मानकर सतत उसी में लगे रहने का प्रयास करना चाहिए। अपने कार्य व समर्पण में और तीव्रता लाना चाहिए; ताकि हम उनके लक्ष्य की पूर्ति के साथ अपना परलोक सुधारने-पापकर्मों का क्षय करने की प्रक्रिया भी पूरी कर सकें। हमारा एक भी कल्याणकारी कार्य—एक व्यक्ति को युग निर्माण-प्रक्रिया से, गायत्री व यज्ञ अभियान से जोड़ना भी निरर्थक नहीं जाएगा। वह निश्चित ही फलित होगा, यह एक विश्वास सतत मन में रखे रहना चाहिए। भले ही हम उच्च स्तरीय ध्यान योग न कर पाये हों।

दुर्लभतर जन्म

एक बात और कही गयी है वासुदेव द्वारा। ऐसा जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। (एतत् हि दुर्लभतरं लोके जन्म यत् ईदृशं) अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा को प्रारब्ध कर्म के फल भोग के अनुकूल ही जन्म ग्रहण करना है। यह सृष्टि का एक शाश्वत नियम है। इस नियम में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अपवाद रूप में भी नहीं। मोक्ष प्राप्ति का कारण होने से—पूर्व जन्मों की वैराग्य मनोभूमि एवं संचित सुसंस्कारों

की निधि होने से स्तुति रूप में इसे दुर्लभतरं उपाधि दी गई है। उसके लिए उस जन्म का बड़ा उच्चस्तरीय पुरुषार्थ चाहिए। जहाँ से छूट गया था, अगले जन्म में ज्ञानी-योगी जनों के घर जन्म लेकर वह पूरा कर लिया जाता है। कभी कभी ऐसे लोग अपना कार्य समाप्त कर जल्दी देह भी छोड़ देते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दिव्य गति मानी जानी चाहिए। उनके वियोग का मनों संताप भी मन में नहीं रखना चाहिए।

अब कुछ भ्रांतियाँ और स्पष्ट हो जानी चाहिए। योगभ्रष्ट स्वर्गादि के भोग भोगने के बाद मृत्युलोक में क्यों लौटकर आता है और क्यों वह शुद्ध श्रीमानों के घर में जन्म लेता है। यह श्रीमान लोग कौन सज्जन होते हैं? जो मनुष्य जीवन भर योग साधन-पूजापाठ-यज्ञादि कर्म करता रहा, उसका वह साधन मृत्यु के समय छूट गया। कहीं बीच में असंयम भी होता रहा। पर उन साधनों की महत्ता सुसंस्कारों की छाप के रूप में उसके अंतःकरण पर अंकित हो गई। ऐसी स्थिति में वह अन्य लोकों में उपभोग के बाद भी प्रेरित होता है-साधना पथ पर अग्रगामी बनने के लिए। पूर्व जन्म का योगाभ्यास उसे बरबस श्रीमानों के घर में खींच लेता है एवं वह भोगादि सुखों को जीवन में स्थान देते हुए भी अपनी पूर्णता की यात्रा पूरी कर ही लेता है। एक प्रकार से भगवान उसे पूर्वजन्म की साधना का पुरस्कार देते हैं एवं भोग की सूक्ष्म वासना के कारण उसका जन्म श्रीमन्तों के यहाँ होता है।

शुद्ध श्रीमान उन सज्जन पुरुषों-श्रीमन्तों को कहा जाता है, जिनका परिश्रमजन्य धन पवित्र स्रोतों से आया है। कभी किसी का हक उनसे मारा नहीं है। मन-अंतःकरण से उनकी भोगों में ममता नहीं है। भोग बुद्धि के वशीभूत हो, वे किसी पर जबरन अपना अधिकार नहीं जताते। घर में जिनके सुसंस्कारों का वास होता है तथा जिसने परिवार निर्माण की साधना की होती है। जो स्वयं को धन-मकान-पदार्थों का उपभोक्ता होने के कारण मालिक मानते हैं, वे श्रीमान नहीं कहलाते।

वे तो वास्तव में धन के गुलाम होते हैं। यह परिभाषा स्पष्ट हो जाने पर धनवान, सम्पत्तिवान एवं श्रीमान-शुद्ध जीवन जीने वाले श्रीमन्तों में अंतर स्पष्ट हो जाएगा।

वैरागी योगी की गति

श्लोक क्रमांक ४२ में भगवान ने जिस साधक की चर्चा की है, वह योगभ्रष्ट अवश्य है पर उसके अंदर तीव्र वैराग्य की भावना है। वह सीधा योगियों के कुल में जन्म लेता है और भगवान की दृष्टि में यह जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। जिस घर में जरा भी चर्चा प्रसंगवश भी सांसारिक भोगों की नहीं होती। बाल्यकाल से ही उसे साधनामय वातावरण मिलता है। उसे शिक्षा-विद्या-संस्कार सभी मिलते चले जाते हैं। उसकी साधना की पूर्णता उसे यहाँ शीघ्रातिशीघ्र मिलती है। उसी कारण ऐसे योगियों के कुल में जन्म लेने की प्रक्रिया को दुर्लभतर रूप में प्रतिपादित करते हैं। शास्त्रों में मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ बताया गया है। (सुरदुर्लभ मानुस तन) पर मानव जन्म लेने के बाद यदि महापुरुषों-योगियों का साहचर्य मिल जाय, तो यह और भी दुर्लभ माना गया है; क्योंकि जन्म लेने के बाद भी उन महापुरुषों को पहचानना अत्यधिक कठिन है। सत्संग यदि मिल जाय, आभास यदि हो जाय तो वह कभी निष्फल नहीं जाता, निश्चित ही पूर्णता की यात्रा सफल होकर रहती है। हम सभी बड़े सौभाग्यशाली हैं कि हमें परम पूज्य गुरुदेव पंडित श्रीराम शर्मा जी आचार्य एवं शक्ति स्वरूपा माताजी का सान्निध्य मिला। हम उन्हें पहचान पाये कि नहीं, यह बात अलग है। वर्षों साथ बने रहे पर यदि उन्हें एक साधारण मानव-दम्पति मात्र मानते रहे, तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। अभी भी हम उनका सान्निध्य उनके द्वारा बतायी योग साधना सम्पादित कर उनके स्वर में स्वर मिलाकर ध्यान कर तथा उनके द्वारा लिखी हजारों पुस्तकों का स्वाध्याय

करके पा सकते हैं। यदि हम उनके अनुचर बने रहे तो योगभ्रष्ट होने पर भी मुक्ति का पथ प्रशस्त कर लेंगे।

अपना भावी जन्म सुधार लें हम

हमारे एक भूतपूर्व एवं स्वतंत्र राष्ट्र के प्रथम प्रधानमंत्री के बारे में कहा जाता है कि वे भी पूर्व जन्म में एक बड़े योगी थे- हिमालय में तपस्यु थे पर किन्हीं कारणोंवश भोगों में रुचि जाग उठी। ध्यान साधना अधूरी छूट गयी एवं शरीर भी छूट गया। पुनः उनने जन्म लिया एवं वह जन्म श्रीमन्तों के खानदान में हुआ, जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार का अभाव नहीं था। भोग में रुचि की प्रबलता उन्हें उस कुल में खींच लाई। राष्ट्र के स्वातंत्र्य यज्ञ में उनने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, पर साधना के लिए मिले इस महत्त्वपूर्ण अवसर का वे कितना लाभ उठा पाए, यह प्रश्न तो काल के गर्भ से उत्तर माँगेगा। हम नहीं जानते, उनकी क्या गति हुई; पर यदि थोड़ा सा भी आध्यात्मिक साधन व्यक्ति (योगभ्रष्ट) साधले, तो वह अपना यह जन्म सुधारकर भवबंधनों से मुक्ति पा सकता है।

परम पूज्य गुरुदेव हम सभी से कहते थे कि तुम सभी पूर्व जन्म के योगी हो। तुमसे मैं स्वाध्याय इसीलिए कराता हूँ कि यही तुम्हें मुक्त करायेगा। ज्ञान ही संस्काररूप में आत्मा के साथ यात्रा करता है। संभव है इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में इस ज्ञान की थाती के बलबूते हमें जन्म-मरण के बंधनों से मुक्ति मिल जाय। भगवान न योगभ्रष्ट को छोड़ते हैं न योग साधन में लगे व्यक्ति को। कर्म विधान व योग साधना की तीव्रता के अनुरूप ही हमारा भविष्य का जन्म निर्धारित होता है।



योग पथ पर चलने वाले का सदा कल्याण ही कल्याण है

योग से च्युत होने का भय

अर्जुन विद्वान है, भावनाशील है बचपन से ही उसे सत्पुरुषों की संगति मिली है, पर उसने बड़ा दुख झेला है। राजपुत्र होने के बावजूद कौरवों द्वारा सौतेला व्यवहार, पिता का विछोह, अपनी बड़ी माँ की (माद्री) जल्दी मृत्यु, अज्ञातवासों की शृंखला-इस पर भी उसे वासुदेव का साथ मिला, यह उसका सौभाग्य है। पर उसकी मनःस्थिति इन हिचकोलों की वजह से बड़ी व्यथित है। युद्ध वास्तविक रूप में सामने आने पर वह अपने पितामह एवं गुरु द्रोण को देखकर व्यथित हो जाता है। उसे श्रीकृष्ण के उपदेश प्रिय तो लग रहे हैं, पर उसकी कमजोरियाँ भी याद आ रही हैं। उसकी जिज्ञासा किसी भी आम आदमी की जिज्ञासा है। क्या होगा-यदि योग पथ पर चलते-चलते अंत आने के पूर्व ही मार्ग से च्युत हो जायें-कोई असंयम किसी भी प्रकार का हो जाय। कहीं ऐसा तो नहीं कि वर्षों का आध्यात्मिक पुरुषार्थ व्यर्थ चला जायेगा। कोई कैसे इतनी सावधानी रखेगा। यह सारी आशंकायें उसे परेशान कर रही हैं। उन्हीं से ग्रस्त हो वह हम सभी की ओर से प्रश्न पूछता है और भगवान उसका तुष्टिपरक समाधान देते हैं।

पूज्यवर का हमें संदेश

परम पूज्य गुरुदेव ने मृत्यु को एक पर्व माना है और भारतीय संस्कृति की परिभाषाओं में व्याख्या करते हुए उसे आत्मा की अनंत यात्रा का एक विराम (स्टाप ओवर) भर कहा है। आत्मा की निरंतरता-पुण्यों का संचय-तप-योग से अर्जित संस्कारों की निधि की अक्षुण्णता बराबर बनी रहती है। इसीलिए उनने योग शब्द की विराट व्याख्या

की-उसे यज्ञ से जोड़कर परमार्थ के लिए किया गया एक श्रेष्ठतम कर्म माना। कहा कुसंस्कारों की गलाई करो-उन्हें साफ करते चलो-तप की प्रक्रिया द्वारा तथा सुसंस्कारों की ढलाई करो-योग के द्वारा। युग निर्माण जैसे विराट कार्य में, विचार क्रांति अभियान में, देव संस्कृति विश्वविद्यालय द्वारा एक व्यापक विद्या विस्तार योजना में उनके द्वारा हमें नियोजित किया जाना हमारे हित में ही है, यह हमें मानते रहना चाहिए। हम इस जन्म में मुक्त न हो पाए तो क्या? गुरु का कार्य करते हुए अगला जन्म लेंगे-किसी श्रीमंत के यहाँ या किसी योगी-ज्ञानी-ध्यानी के यहाँ और अंततः बंधनमुक्त हो जायेंगे- हमारी दिव्य गति होगी। हमें याद रखना है कि हमारे द्वारा किया गया एक भी कल्याणकारी कार्य कभी निरर्थक नहीं जायेगा। वह हमारे अक्षय पुण्यों की निधि में जुड़ता चला जायेगा। जहाँ तक हम कर सकें करें-उसी कड़ी को आगामी जन्म में पुनः वहीं से जोड़ते हुए चलेंगे-पिछला फिक्स्ड डिपाजिट हमारे काम आएगा।

योगेश्वर श्रीकृष्ण बड़े मर्म की बात कहते हैं एवं अर्जुन के साथ-साथ हम सभी गीता के सुधी पाठकों को एक आश्वासन देते हैं कि धैर्य रखो-तप और योग को जीवन का एक अंग बना लो और अपने जीवन में क्रमशः आध्यात्मिकता का समावेश करते रहो। सभी कुछ ठीक होता चला जायेगा। चाहे वह युग साहित्य का स्वाध्याय हो, चाहे उस क्रांतिकारी चिंतन का विस्तार हो, वाणी द्वारा या लेखनी द्वारा, आचरण द्वारा या अन्य किसी माध्यम द्वारा-हमारे हित के लिए ही है।

आगे के श्लोकों में श्रीकृष्ण कहते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥६/४३॥

शब्दार्थ—

“हे कुरुनन्दन अर्जुन (कुरुनन्दन) उस जन्म में (तत्र) उसको (तं) पूर्वजन्म की (पौर्वदेहिकम्) ब्रह्मविषयक बुद्धि का संयोग-साधन सम्पत्ति [अनायास ही] (बुद्धिसंयोगं) प्राप्त हो जाती है (लभते) । उससे [वह] (ततः) फिर (च) साधन की सिद्धि के विषय में (संसिद्धौ) पुनः (भूयः) प्रयत्न करता है (यतते) ।”

भावार्थ— “वहाँ वहा उस पहले शरीर में संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोग को अर्थात् योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर परमात्मा की प्राप्तिरूपी सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़चढ़कर प्रयत्न करता है ।”

पूर्वजन्म की सम्पदा

श्रीमद्भगवद्गीता का सौन्दर्य उसके काव्य में भगवान वेदव्यास द्वारा चयन किए हुए शब्दों के गुंथन में देखा जा सकता है । ऐसा लगता है वासुदेव के श्रीमुख से वह सब इस श्लोक में अभिव्यक्त कर दिया गया है, जो कोई योगी इस जन्म में संग्रहीत कर भावी जन्म में प्राप्त करता है या जिसे जानने की आकांक्षा हर किसी में रहती है । पिछले श्लोकों (४१, ४२) के द्वारा हमें यह तो समझ में आ गया कि योग से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति कुछ अपनी विशिष्ट भोगकामनाओं का क्षय करता हुआ क्रमशः योगी के घर में जन्म ले लेता है अथवा श्रीमन्तों के यहाँ पैदा होता है । फिर पूर्व में अर्जित ज्ञान-अन्यान्य विशिष्ट योग्यताओं का क्या होता है । पूर्वजन्म में इतना परिश्रम किया, वह निरर्थक तो नहीं चला जाता । क्या फिर से मन को निग्रहीत कर ध्यान का पूरा अभ्यास फिर से करना पड़ता है ? यह प्रश्न किसी के भी मन में आ सकता है ।

युगगीता

167

ऐसे में महान मनोवैज्ञानिक एक कुशल चिकित्सक के रूप में श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं कि जैसे ही नया शरीर मिलता है—मानवी बुद्धि स्वतः स्वाभाविक रूप से पूर्व शरीर में अर्जित ज्ञान को प्राप्त कर लेती है—लभते पौर्वदेहिकम्। अब सारा विश्व इस तथ्य को स्वीकार कर रहा है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक चिकित्सक डॉ० ब्रायन वायस अपनी मेनीलाइव्स मेनीमास्टर्स एवं मेसेजेस फ्राम मास्टर्स जैसी विश्वविख्यात पुस्तकों में अपने अनुभवों द्वारा विगत एक दशक में एक क्रांति मचा चुके हैं कि मनुष्य पूर्व जन्म की यादों को—बुद्धि को संग्रहीत करता चलता है। उनसे इसके माध्यम से रोगियों को पूर्व जन्म की यादों में ले जाकर बहुत सी आज की व्याधियों की चिकित्सा करने की कोशिश की है और उन्हें नब्बे प्रतिशत सफलता मिली है। इस देह के छोड़ने के बाद वासनाओं से प्रेरित मन—बुद्धि नये-नये अनुभवों का संग्रह कर एक नए शरीर में प्रविष्ट होती है और वहाँ उसे वे सारी स्मृतियाँ पुनः याद हो आती हैं।

योग पथ पर चलते रहें—भावी जन्म में सफलता सुनिश्चित है

कई प्रतिभाशाली व्यक्तित्व—प्रोडिगी (PRODIGY) जिन्हें हम जानते हैं कि बाल्यकाल से ही वे बड़े कुशल मेधा संपन्न थे—उनके मूल में वस्तुतः भूतकाल का जन्म ही मुख्य भूमिका निभा रहा होता है। पूर्णतः स्वस्थ—दुर्बलताओं से मुक्त व्यक्ति जो पूर्वजन्म में योगभ्रष्ट हो गया था, अपने ज्ञान—संग्रह की निधि के साथ जन्म लेता है और पूरे उत्साह के साथ अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ में जुट जाता है; ताकि वह शीघ्र ही सिद्धि को पा सके। सिद्धि क्या है? परमात्मा की प्राप्ति—परम लक्ष्य की प्राप्ति। जीव का ब्रह्म में विलय। कभी—कभी हम एक ही गुरु के दो—तीन शिष्यों में किसी एक की असाधारण प्रगति देखकर विस्मय में पड़ जाते हैं। यह वस्तुतः पूर्वजन्म की उपलब्धि का ही परिणाम है कि एक शिष्य असाधारण लक्ष्य की ओर चल पड़ता है। अनुभवों के

उच्चतम शिखर पर पहुँचकर वह गुरु के कार्यों को और आगे बढ़ाता है। हर व्यक्ति के लिए योगेश्वर का आश्वासन है कि हम धैर्य न छोड़ें—सही मार्ग पर—गुरुसत्ता के बताए मार्ग पर चलें और प्रयासरत रहें—पुनः योग-भ्रष्ट न हों और प्रसन्नतापूर्वक लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में बढ़ते रहें—निश्चित ही सफलता कदम चूमेगी।

स्वामी रामसुखदासजी लिखते हैं कि पूर्वजन्म की साधन सामग्री मिलना ठीक उसी प्रकार है, जैसे किसी को रास्ते पर चलते-चलते नींद आने लगे और वह वहीं किनारे पर सो जाय। जब वह सोकर उठेगा, तो उतना रास्ता तो उसका तय किया हुआ रहेगी ही—बस वह आगे की यात्रा आरंभ कर देगा। पूर्वजन्म की साधना वस्तुतः जीवात्मा पर संस्कारों की छाप छोड़ देती है। जितने अच्छे संस्कार पड़ चुके हैं, वे सभी इस नए जन्म में जाग्रत् हो जाते हैं।

आध्यात्मिक पूँजी कभी नष्ट नहीं होती

पूर्वजन्म का बुद्धिसंयोग एक अनुदान रूप में मिलता है, साथ ही योगी के घर में जन्म-श्रेष्ठ पुरुषों की संगति—स्वाध्याय इन सबके सहज मिल जाने से साधन-सिद्धि में उत्साह बढ़ता चला जाता है। आध्यात्मिक प्रगति सहज ही होने लगती है। प्रस्तुत श्लोक इस आशावाद को बढ़ाता है कि मनुष्य को सतत आध्यात्मिक पुरुषार्थ करते रहना चाहिए, वह निश्चित ही फलित होगा। सांसारिक पूँजी तो समाप्त होनी ही है, वह तो क्षणभंगुर है, पर आध्यात्मिक पूँजी योगभ्रष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। वह समय पाकर फिर प्रकट हो जाती है। यह एक प्रकार से ऐसा डिपॉजिट है, जो आत्मसत्ता के साथ जुड़ा है। समाप्त नहीं होता—बढ़ता चला जाता है।

सद्गुरु अपने शिष्यों की पूर्व जन्मों की साधना-संपदा को जानते हैं, इसीलिए वे उन्हें तलाशते रहते हैं और अपने कार्य में लगाते

रहते हैं-प्रेरित करते रहते हैं। शिष्य हो सकता है कदाचित् गुरु को भूल गया हो, पर गुरु कभी गलती नहीं करते। वे बराबर उनके योग-क्षेम का ध्यान रखते हैं। वे उनके पूर्व-जन्मों की संचित संपदानुसार लोकहित के कार्यों में उनका नियोजन करते रहते हैं। भले ही वे सशरीर यह कार्य करें अथवा सूक्ष्म या कारण शरीर से। पर उनका उद्देश्य बराबर भान कराने का रहता है। जो इस तथ्य को जल्दी पहचान लेता है, वह सौभाग्यशाली होता है; क्योंकि सद्गुरु के कार्यों से जुड़कर साधनादि कर्मों द्वारा वह सकाम कर्मों का भी अतिक्रमण, अपने समर्पण के कारण-योग में एकजुट होने के कारण, कर जाता है। यही बात वासुदेव अगले श्लोक में कह रहे हैं-

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥६/४४॥

शब्दार्थ-

“वह योगी (सः) उस (तेन) पूर्वजन्म के अभ्यास से प्राप्त प्रारब्ध के वश में होने के बावजूद (एव पूर्वाभ्यासेन अपि) विवश होकर (अवशः) परमात्मा की तरफ आकर्षित हो जाता है। [विषय भोग छोड़कर ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है] (ह्रियते)। क्योंकि (हि) इस समतारूपी योग का (योगस्य) जिज्ञासु भी (जिज्ञासुः अपि) वेदोक्त कर्मों के फलों का (शब्दब्रह्म) अतिक्रमण कर जाता है (अतिवर्तते)।”

भावार्थ-

“वह योगभ्रष्ट पूर्वाभ्यास के वेग से विवश हुआ सहज ही भगवान की ओर खिंचा चला आता है तथा योग का जिज्ञासु ऐसा व्यक्ति वैदिक कर्मकाण्डों का-सकाम कर्मों के फलों का उल्लंघन कर जाता है- अर्थात् उनसे श्रेष्ठ माना जाता है।”

पूर्वाभ्यास का वेग

जैसा हमारा भूतकाल रहा है, वैसे ही आज हम हैं। यदि हमारी साहित्यलेखन में रुचि रही है, तो कलम उठाने का मन करेगा ही, यदि

गायन में हमें आनन्द आता रहा है, तो गाए बिना मन मानेगा नहीं। पूर्वाभ्यास का वेग यही है। पूर्वजन्म के साधना के अभ्यासजन्य संस्कार हमें सहज ही इस ओर खींचते चले जाते हैं। यदि हमारी रुचि आध्यात्मिक रही है—हमारा मन स्वतः ही उन सभी कार्यों में रुचि लेगा, जो भगवद्भक्ति से जुड़े हैं, जिनसे हमारा आत्मिक उत्कर्ष सधता हो। हमारे कर्म आज क्या हैं, यह महत्त्वपूर्ण नहीं। हमारे विचार-चिंतन प्रक्रिया आदि किस दिशा में चल रहे हैं—यह महत्त्वपूर्ण है। हमारे विचार ही हमारे कर्मों के पीछे होते हैं एवं यदि वे अच्छे हैं—विधेयात्मक हैं—हमें सदा भगवद् चर्चा की ओर मोड़ देते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा पूर्वाभ्यास हमें विवश कर रहा है। कभी-कभी इस जन्म में हम देखते हैं कि अच्छे लोग कष्ट भोग रहे हैं और बुरे जीवन में सुखी हैं, तो हमें एकदम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाना चाहिए कि जो कष्ट झेल रहे हैं, उनसे बुरे कर्म किए हैं। बहिरंग के कर्म स्थूल कर्म हैं—हमारे विचार सूक्ष्मकर्म। महत्त्व इन सूक्ष्म कर्मों का है। इसीलिये एक ध्यान योगी कष्ट भोगते हुए भी कभी-कभी तप कर लेता है और आत्मिक सुख प्राप्त कर योग की ओर कदम बढ़ा लेता है।

सहज ही मुड़ जाते हैं परमात्मा की ओर

यहाँ योगेश्वर ने एक शब्द का प्रयोग किया है “अवशो अपि” अर्थात् परवश होने पर भी—इन्द्रियाँ—मन आदि भोगों में आसक्त होने पर भी पूर्व के अभ्यास के कारण ध्यान योगी सहज ही परमात्मा की ओर खिंचा चला आता है। जितना ध्यानयोग सम्पादित होगा—जितना मन परमात्मा में नियोजित किया जायेगा—सत्संस्कार एकत्र होते चले जायेंगे। यही श्रेष्ठ संस्कार भोगों से आवेश में आए हुए योगभ्रष्ट को खींचकर परमात्मा की ओर मोड़ देते हैं।

योग का जिज्ञासु कर्मकाण्डी से श्रेष्ठ

आगे भगवान जब कहते हैं कि समबुद्धिरूपी योग का जिज्ञासु वैदिक सकाम कर्मों के फल का भी उल्लंघन कर जाता है, तो उनका

आशय है-यांत्रिक रूप से मंत्रोच्चारण करने वाले (मात्र लिप सर्विस), अंधविश्वासपूर्वक वैदिक कर्मकाण्ड या अनुष्ठानों का सम्पादन करने वाले से वह व्यक्ति श्रेष्ठ है, जो ध्यानयोग के राजमार्ग पर चल रहा है। इसीलिए वे कहते हैं, जिज्ञासुरपि योगस्य (योग का जिज्ञासु भी) सकाम कर्म करने वाले-तथाकथित कर्मकाण्डी अनुष्ठानों का सम्पादन करने वालों से श्रेष्ठ है-“शब्दब्रह्मातिवर्तते”। जिसका मन सूक्ष्मतम स्तर पर भगवत्सत्ता के गुह्यभावों को स्वीकार करने की स्थिति तक परिपक्व हो गया-जिसने उस तृप्ति-तुष्टि-शान्ति का रसास्वादन कर लिया, जो परमात्मा के साक्षात् अनुभव में है तथा जो सत्-चित्-आनन्द के सम्पर्क में आ चुका-उसे क्षणिक विषय सुख अब कैसे प्रभावित करेंगे। अब वह मार्ग से कभी डगमगा नहीं सकता। अब वह और योगभ्रष्ट नहीं हो सकता। •

थोड़ा सा भी योग का अनुष्ठान कल्याणकारी है

यहाँ कर्मकाण्डों की आलोचना नहीं की जा रही। भगवान कह रहे हैं कि कर्मकाण्ड तो मात्र मन की शुद्धि के लिए उपरत होने एवं एकाग्रता की ओर ले जाने के लिए हैं। ध्यान तो उससे भी ऊपर की बात है और उसकी जिज्ञासा यदि बनी रहे, तो वह योग के सर्वोच्च पद पर हमें स्थापित कर देती है। भगवान कितने उदार-विराट हृदय वाले हैं। यह बात इस श्लोक से पता लगती है। जो यहाँ के भोगों की-संग्रह की रुचि सर्वथा मिटा नहीं पाया और पूरी स्फूर्ति के साथ भोग में भी स्वयं को नियोजित नहीं कर पाया, उसकी भी उनने इतनी महत्ता बतायी है। ऐसा संकेत भगवान पहले भी दूसरे अध्याय के चालीसवें श्लोक में कर चुके हैं कि समत्वरूपी योग का आरंभ भी कभी नष्ट नहीं होता। एक बार बीज डल गया, तो फलीभूत अवश्य होता है। थोड़ा सा भी योग का अनुष्ठान जन्म-मृत्युरूपी महान भय से रक्षा कर कल्याण कर देता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२/४० ॥

कितना सुनिश्चित आश्वासन प्रभु का है । जो एक बार योग में प्रवृत्त हो गया, उसका कल्याण ही कल्याण है । कभी भी उसका पतन नहीं होने वाला । पूर्व संस्कार निश्चित रूप से नये जन्म में फलीभूत होंगे और अंततः योग की पराकाष्ठा पर पहुँचकर बंधनमुक्ति का पथ-प्रशस्त होगा । प्रयास करते रहना-योग पथ पर चलते रहना-ध्यान योग का आश्रय न छोड़ना मनुष्य का कर्तव्य है ।



तस्मात् योगी भवार्जुन

अनेकजन्मसंसिद्धः योगी

योगेश्वर श्रीकृष्ण दृढ़तापूर्वक स्वरो के साथ मानो घोषणा करते हैं-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ६/४५

शब्दार्थ:-

किन्तु (तु) पूर्वजन्म के प्रयत्नों की अपेक्षा भी अधिक यत्न के साथ (प्रयत्नात् यतमानः) निष्पाप होकर (संशुद्ध- किल्बिषः) योगी (योगी) अनेक जन्मों के प्रयासों से सिद्धि लाभ करके (अनेकजन्मसंसिद्धः) उसके पश्चात् (ततः) श्रेष्ठ (परां) मोक्षरूपी परमगति (गतिं) प्राप्त करते हैं (याति) ।

भावार्थ:-

“ऐसा ध्यान-योगी जो निरन्तर प्रयत्नशील है, विगत अनेक जन्मों के संस्कारबल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित तत्काल ही परमगति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।”

मानवी व्यक्तित्व पर निरन्तर पड़ने वाले धब्बे जो वासना रूप होते हैं क्रमशः ध्यान की प्रक्रिया से धुलने लगते हैं। वासनाएँ क्रमिक रूप से दग्ध होती चलती हैं। अब ये नए कर्मों या विचारों का निर्माण नहीं करतीं। ऐसा ध्यान योगी अपने अनेक जन्मों के निरन्तर प्रयास से पूर्णतः निष्पाप हो जाता है (संशुद्धकिल्बिषः) और अपने पूर्व के संगृहीत ज्ञान-अनुभव व साधना के परिपाक के फलस्वरूप विकास के चरम शिखर तक पहुँच जाता है-पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। उसे मोक्ष रूप में परम पद की प्राप्ति होती है।

पाप से मुक्ति का आश्वासन

योगेश्वर श्रीकृष्ण का प्रयास है कि कोई भी साधक अपनी योगपथ पर यात्रा छोड़े नहीं, निरन्तर प्रयत्नरत रहे। ध्यान की स्थिति में अंतः में उपलब्ध शान्ति के समक्ष हमारा सारा व्यक्तित्व खुलकर सामने आ जाता है। क्रमशः वासनाएँ मिटती चली जाती हैं। जैसे-जैसे वासनाएँ मिटती हैं, सदज्ञान की प्राप्ति होती चली जाती है। यही ज्ञान अंत में श्रीकृष्ण की पूर्व घोषणा के अनुसार उसे पापों से मुक्त करता है। पहले श्रीकृष्ण कह चुके हैं-

“यदि तू अन्य सभी पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा बिना किसी सन्देह के सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भलीभाँति तर जाएगा” (४/३६)। वे बड़े करुण हृदय हैं। सभी पापकर्म करने वालों पर उनकी दृष्टि है एवं वे सभी को सतत ध्यान योगी बनने की, कर्म के माध्यम से प्रेरणा दे रहे हैं। अर्जुन निमित्त बना है पर यह संदेश वस्तुतः हम सभी के लिए है। परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने भी जीवन भर अपनी दृष्टि मध्यम वर्ग के उन लोगों पर रखी, जिन्हें युग निर्माण में आगे चलकर भागीदारी करनी थी। जो पूर्व जन्मों में साधना कर चुके थे, पर लक्ष्य-प्राप्ति तक अपने मनोयोग-ध्यान प्रक्रिया में संसिद्ध न होने के कारण, नहीं पहुँच पाए थे। उन सभी को उनने आश्वासन दिया कि वे भी सतत प्रयासरत रहें, ज्ञान का लाभ प्राप्त करें-गायत्री साधना का आश्रय लें, उपासना के साथ आराधना को भी समन्वित करें-क्रमशः “संशुद्ध किल्बिषः” होते-होते वे भी बंधनमुक्त हो जायेंगे। न जाने कितने नरपुंगवों को-नारी शक्ति को उनने इस अभियान से जोड़ दिया। उनके दैवी प्रयास से आज करोड़ों व्यक्ति ध्यान योग के मार्ग पर प्रवृत्त हो चुके हैं। सूक्ष्म-कारण

रूप में उनकी सत्ता सतत सभी का मार्गदर्शन कर रही है। यही व्यक्ति, विशेष रूप से युवापीढ़ी आने वाले दिनों में उनके द्वारा दिये गये ज्ञान के सहारे भारत को सारे विश्व का सिरमौर बनाएगी।

ध्यान योग से होगा युग निर्माण

मानव से महामानव बनने की यह या-सामान्यकर्मी से दिव्यकर्मी बनने की यह प्रक्रिया गीता के वेदान्तरूपी इस उपदेश से स्पष्ट परिलक्षित होने लगती है। ध्यान योग ही इक्कीसवीं सदी की न केवल चिकित्सा पद्धति है, यही एक मात्र उपाय है समष्टि से एकाकार होने का। विज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचा मनुष्य, विभिन्न यंत्रों-कम्प्यूटर्स-रोबोज की खोज के बाद अब संतुष्ट हो ध्यान में ही शान्ति एवं उस शान्ति में ही मानव जाति का भविष्य ढूँढ़ रहा है। आचार्यश्री कहते हैं कि इतिहास का यही वह महत्त्वपूर्ण मोड़ है, जहाँ अनन्तजन्मों के प्रयत्नों के परिणाम से अपने संस्कारों की सम्पदा लेकर अब जन्मे देवमानव युग परिवर्तन का निमित्त बनने जा रहे हैं। यह स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि सिद्धि के शिखर पर पहुँचने की प्रक्रिया किसी भी साधक के मात्र वर्तमान के प्रयासों की परिणति नहीं होती। उसके अनन्त जन्मों के प्रयास (अनेकजन्मसंसिद्धः) इस लक्ष्य प्राप्ति तक उसे पहुँचाते हैं। गायत्री परिवार एवं अन्य अनेक संगठनों के साधक इसी आधार पर अगले दिनों शिखर पर पहुँचने वाले हैं एवं विश्व-वसुधा की इन दिनों के आसन्न-संकटों से रक्षा करने वाले हैं। युग निर्माण की धुरी भी यह ध्यान रूपी छल्लाँग ही होगी, जो हम सभी को नित्य करना है।

परम पूज्य गुरुदेव लिखते हैं-“गंगावतरण के लिए जैसी साधना हुई थी, वैसी ही साधना करोड़ों गायत्री मंत्र के नित्य जप व ध्यान द्वारा गायत्री परिजनों के माध्यम से हो रही है। चौबीस लाख परिजन कंधे से कंधा, कदम से कदम मिलाकर चलें, तो कोई कारण नहीं कि वे डूबे

हुए सूर्य को फिर से उदय होने के लिए विवश न कर सकें। ऐसे ही तूफानी प्रवाह संसार को बदलते रहे हैं जैसे कि प्रज्ञा अभियान के रूप में संसार के कोने-कोने में हो रहे हैं।.....इन दिनों कोई विश्वामित्र, कोई दुर्वासा सूक्ष्मीकरण का प्रचण्ड तप कर रहा है। युग परिवर्तन की शुभारम्भ वेला में दृश्य और अदृश्य जगत में ऐसी हलचलें हो रही हैं, जिन्हें अद्भुत या ऐतिहासिक कहा जा सके। इन दिनों हिमालय तप रहा है। उसके घोंसले में बैठे अण्डे-बच्चे हिलते-डुलते और पंख फड़फड़ाते देखे जा सकते हैं। विश्व को अभिनव ऊर्जा से भर देने वाला दैवी प्रयास चल रहा है। कितने ही च्यवन और वाल्मीकि ऐसा प्रत्यक्ष तप कर रहे हैं, जिसके प्रमाण उनके शरीरों पर दीमक जम जाने जैसे देखे जा सकते हैं। पर यह तो प्रत्यक्ष है। परोक्ष भी इतना कुछ है, जो इसके अतिरिक्त है। वर्षा होती दीखती है, पर उसके आधारभूत केन्द्र मानसून के बादल दूर समुद्र से द्रुतगति से क्रियाशील हो रहे होते हैं। दिव्यदर्शी ऐसी ही हलचलों का आभास प्राप्त कर रहे हैं। कुछ मूर्धन्य तपस्वी मात्र अपने ही अस्थि-पिंजरों को भट्टी की तरह गर्म नहीं कर रहे, उसका प्रभाव वातावरण पर भी देखा जा रहा है या दिखने लगेगा।” (वाङ्मय खण्ड २९-“सतयुग की वापसी-” पृष्ठ ६.६८ से ६.७१)

ध्यान ही है नवयुग का केन्द्र बिन्दु

इससे स्पष्ट है कि साधना ही धुरी है-ध्यान योग ही अब वह केन्द्र है जिस माध्यम से नवयुग का आगमन होने जा रहा है। यदि हम सब जल्दी जाग गए, पेट-प्रजनन के चक्र से निकलकर गीताकार के उपदेशानुसार स्वयं को ढाल पाए, युगावतार-प्रज्ञावतार की वाणी को आत्मसात् कर सके, तो ध्यान का आश्रय लेकर सतयुग की वापसी का निमित्त बन सकते हैं। श्री अरविन्द लिखते हैं—“मेरा काम अब मानव निर्माण नहीं, बल्कि दैवी मानव निर्माण है” (पृष्ठ ११८ “भारत का पुनर्जन्म”)। निश्चित ही जीवन साधना एवं उसमें भी ध्यान को केन्द्र

बनाकर परम पूज्य गुरुदेव ने भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के आदर्श देवमानव-दिव्यकर्मी मानव के निर्माण की बात इस अध्याय में बार-बार कही है और यहाँ तो उनने विगत जन्मों की साधना की पूंजी को आधार बताकर सबको स्मरण भी दिला दिया है—हमें हमारा कर्तव्य बता दिया है।

सुरदुर्लभ यह जन्म

गीता के मर्मज्ञ महान विद्वान पं० श्री रामसुखदास जी महाराज “अनेकजन्मसंसिद्धः”, “संशुद्धकिल्बिषः” एवं “ततो याति परां गतिम्” की व्याख्या का समापन करते हुए लिखते हैं कि “वस्तुतः मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों की संसिद्धि के कारण है। यदि मनुष्य शरीर के पहले वह स्वर्गादि लोकों में गया है, तो वहाँ शुभ कर्मों का फल भोगने से उसके स्वर्ग प्राप्ति कारक पुण्य समाप्त हो गए और वह पुण्यों से शुद्ध हो गया। यदि वह नरकों में गया है, तो वहाँ नारकीय यातना भोगने से उसके वे पाप समाप्त हो गए एवं वह पापों से शुद्ध हो गया। अगर वह चौरासी लाख योनियों में गया है, तो वहाँ उस-उस योनि के रूप में अशुभ कर्मों का, पापों का फल भोगने से उसके मनुष्येतर योनि के पाप कट गए और वह शुद्ध हो गया। यह शुद्ध होना ही “संसिद्ध” होना है। हर मनुष्य प्रयास पूर्वक परमगति को प्राप्त कर सकता है, अपना कल्याण कर सकता है। कारण यह कि भगवान् ने यह अंतिम जन्म मनुष्य को केवल अपना कल्याण करने के लिए ही दिया है। जब उनने यह दुर्लभ तन दिया है तो यह मुक्ति का पात्र है ही। हर मनुष्य को अपने उद्धार के लिए तत्परता पूर्वक यत्न करना ही चाहिए।” (पृष्ठ ४६०—साधक संजीवनी)। एक बात और वे लिखते हैं कि “मनुष्य जन्म ही ऐसा है, जिसमें अपने उद्धार-बंधनमुक्ति के लिए मिले अवसर का सदुपयोग या दुरुपयोग किया जा सकता है। दुरुपयोग करके ही व्यक्ति पाप, अन्याय करके अशुद्ध होता है।” जहाँ योगेश्वर

“संशुद्धकिल्बिषः” की बात कह रहे हैं—वहाँ उनका आशय है—पापों को नष्ट कर देना। यह जन्म-जन्मों की साधना से, इस जीवन में मिले अवसर का सदुपयोग करने से, दिव्य कर्म करने से—सेवा साधना के लिए मिले समय का आराधना में नियोजन करने से एवं ध्यान-योग द्वारा संभव है। हम सभी बड़े सौभाग्यशाली हैं कि हमें ऐसी गुरुसत्ता का सान्निध्य मिला है, जिनने हमें अपनी ज्ञान की नौका में बिठा दिया है, हमें तो बस भवसागर पार होना है—उनके काम में स्वयं को खपा देना है।

अंतिम छलाँग

भगवान् अब इस अध्याय के समापन के पूर्व एक अति महत्त्वपूर्ण ४६ वें श्लोक द्वारा साधक को अंतिम छलाँग ले लेने हेतु प्रेरित करते दिखाई देते हैं। उनका उद्देश्य यही है कि दिव्यकर्मी-योगी ध्यान का मर्म समझें—स्वयं के जीवन में ध्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान दें क्योंकि सभी योगों में ध्यान-योग ही सर्वश्रेष्ठ है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी

ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी

तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६/४६)

शब्दार्थ इस प्रकार हुआ—

योगी (योगी) तपस्वियों की अपेक्षा (तपस्विभ्यः) श्रेष्ठ हैं (अधिकः), ज्ञानियों से (ज्ञानिभ्यः) भी (अपि) श्रेष्ठ हैं (अधिकः) और (च) सकाम कर्म करने वालों से भी (कर्मिभ्यः) योगी (योगी) श्रेष्ठ हैं (अधिकः), ऐसा मेरा मत है (मतः) इसलिए (तस्मात्) हे अर्जुन तुम (अर्जुन) योगी हो जाओ (भव)।

भावार्थ है—“योगी तपस्वियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, शास्त्र-ज्ञान-संपन्न व्यक्तियों से भी बढ़कर है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी (ध्यानयोगी) बनो।”

ध्यानयोगी ही सर्वश्रेष्ठ

ध्यान मनुष्य की ही विशेषता है। जीवजन्तु ध्यानस्थ होकर उच्चस्तरीय चेतन कक्षाओं में नहीं जाते। मनुष्य ही—एक दिव्यकर्मी ही ध्यान कर सकता है। ध्यान की सबसे बड़ी उपलब्धि है—अंतःकरण की शुद्धि, आसक्तियों से मुक्ति और वासनाओं की खाई का पटना। इसलिए श्रीकृष्ण का एक शाश्वत संदेश है—ध्यान करो, ध्यान करो। जितनी भी योग पद्धतियाँ हैं— एक स्थान पर जाकर मिलती हैं, वह है ध्यान। हठयोग, नादयोग, लययोग, राजयोग सभी का समापन परिपक्वावस्था में ध्यान योग में ही होता है। ध्यान व्यक्तित्व की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास की प्रक्रिया है। विकास में जो अवरोध आ सकते हैं, उनका निदान भी ध्यान है, उपचार भी ध्यान। इस प्रकार एक समग्र समर्थ उपचार पद्धति है—ध्यान। सम्पूर्ण व्यक्तित्व कैसे विकसित हो, इसकी क्रिया पद्धति सिखाती है ध्यान—प्रक्रिया हमें।

तपसाधन ध्यानयोग का लक्ष्य

ध्यान योग संबंधी इस महत्त्वपूर्ण अध्याय का उपसंहार अब पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण साधकों से—कर्मयोगियों से इस आग्रह के साथ करते हैं कि तुम सभी ध्यान करो—ध्यानयोगी बनो—“तस्माद् योगी भव!” यह एक प्रकार से समापन परक निर्देश है—सारे अब तक के उनके कहे वचनों का सार है। वे कहते हैं कि तप से श्रेष्ठ ध्यान है— इसका अर्थ यह नहीं कि तप नहीं किया जाना चाहिए। तप गलाई है, तो ध्यानयोग ढलाई। परम पूज्य गुरुदेव के शब्दों में धुलाई और रंगाई है। तप साधन है एवं ध्यान एक योगी का लक्ष्य है। कई व्यक्ति तप को ही सब कुछ मान बैठने की भूल कर बैठते हैं। विषय त्याग, तितिक्षा तक सीमित होकर रह जाते हैं, जबकि यह तो यात्रा का शुभारम्भ मात्र है।

ज्ञान व सकाम कर्म से श्रेष्ठ है योग

किसी भी महापण्डित को सभी शास्त्रों का संपूर्ण ज्ञान हो सकता है, वे तर्ककला में प्रवीण हो सकते हैं—शास्त्रार्थ भी कर लेते हैं, पर इस ज्ञान का अर्थ यह नहीं कि वह सर्वश्रेष्ठ है। उसके दैनन्दिन जीवन में व्यक्तित्व की सुन्दरता इस पढ़े हुए शब्द ज्ञान से नहीं आती, न परिलक्षित होती है। जब तक इसका ज्ञान-ध्यान में विलीन नहीं होगा, वह शब्दजाल-बुद्धि के मान (घमण्ड)–अहं के पनपने का ही निमित्त बनेगा। ढेरों पी.एच.डी., विज्ञ व्यक्ति समाज में हैं, पर उनके जीवन में आध्यात्मिक विकास नहीं दिखाई देता, क्योंकि ध्यानयोगी वे नहीं बन पाए। भोगों की कामना से जो सकाम कर्म करते रहते हैं—यज्ञ, दान, तीर्थसेवन आदि शास्त्रीय कर्मों का सम्पादन करते हैं, उनसे भी श्रीकृष्ण के अनुसार ध्यान योगी श्रेष्ठ है; क्योंकि वे निष्काम कर्म में लीन हो चुके हैं। परम पूज्य गुरुदेव के अनुसार उपासना (जप और ध्यान) के तप साधना (मनोयोग-चतुर्स्यम) के बाद भी जो आराधना (निष्काम कर्म-सेवा साधना) करता है—उसी का आध्यात्मिक उत्कर्ष हो पाता है। कर्मकाण्ड अपनी जगह है, पर प्राणहीन सकाम कर्मकाण्ड किस काम का? यदि भावविह्वल हो ध्यानस्थ न हुआ गया हो। तप, शास्त्रों का ज्ञान और यज्ञ-दान-तीर्थ आदि सभी साधन हैं। जब तक ध्येय और ध्याता में समरसता न हो—दोनों विलय न हों—ध्यान की पराकाष्ठा वाली प्रक्रिया संपन्न न हो—ये सभी साधन व्यर्थ हैं। एक पूर्ण योग की परिभाषा योगेश्वर बता रहे हैं, सार संक्षेप में।



वही ध्यानयोगी है श्रेष्ठ जो प्रभु को समर्पित है

ध्यानयोग ही अंतिम लक्ष्य हो

श्री भगवान् जब कहते हैं कि तप से-शास्त्र ज्ञान से-सकाम कर्म से ध्यान योग श्रेष्ठ है, तो इसका यह मतलब नहीं कि जीवन में तप, शास्त्राध्ययन, सेवाभाव, कर्मयोग की जरूरत नहीं। ये सभी साधन हैं-हमारे अंतिम लक्ष्य नहीं। एकाग्र तन्मय मन से हमारी बुद्धि की प्रकाशक सत्ता का ध्यान ही हमारी अंतस् की दुर्बलताओं को शक्ति में बदल सकता है, हमें जीवन के हर क्षेत्र में सफल बना सकता है। भगवान् अपने शिष्य अर्जुन के सबसे हितैषी हैं एवं वे चाहते हैं कि उनका प्रतिभाशाली यह शिष्य अपने को अब तक दिए गए ज्ञान द्वारा मात्र कुछ लक्ष्यों से बँधकर, सीमित होकर न रह जाय। उनकी अपेक्षाएँ काफी हैं एवं उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह कि अर्जुन ध्यान योग को जीवन में उतार कर अपने शीर्ष पर पहुँचे-व्यक्तित्व को निखारे एवं एक आदर्श लोकसेवी बने। किसी भी ऐसे दिव्यकर्मों के लिए नियमित ध्यान से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ और नहीं। सभी योग अंतिम स्थिति में पहुँचकर ध्यानयोग रूपी पराकाष्ठा में परिणित हो-अंतिम सत्य समाधि-तद्रूपता-तल्लीनता-आत्मा-परमात्मा के मिलन संयोग तक पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

तपस्वी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी एवं योगी

ब्रह्मलीन स्वामी रामसुखदास जी महाराज कहते हैं कि “यहाँ अंतर लक्ष्य का है। जो स्वयं को संसार से विमुक्त कर परमात्मा के सम्मुख कर ले, वही वास्तव में योगी है। ऐसा योगी बड़े-बड़े तपस्वियों, शास्त्रज्ञ पण्डितों और कर्मकाण्ड तक सीमित रहने वाले सकाम कर्मियों से भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है। कारण यह कि तपस्वियों का उद्देश्य संसार होता

है एवं सकाम भाव होता है जबकि योगी जनों का उद्देश्य परमात्मा होता है तथा निष्काम भाव होता है।" तपस्वी सहिष्णु होता है, ज्ञानी-बुद्धिज्ञान संचय तथा कर्मी-शास्त्र कर्म तक सीमित रहता है। ये तीनों ही सकाम भाव से काम करने वाले व्यक्ति हैं। इसीलिए भगवान् ने योगी को सर्वश्रेष्ठ बताया है, जो निष्काम भाव से परमात्मा का ध्यान करता है एवं स्वयं की सत्ता को अहं से मुक्त कर उन्हीं में विलीन कर देता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण सबसे उत्तम पथ अपने प्रिय शिष्य को बताते हैं कि, तू योगमुक्त हो जा, योगी बन जा। पाँचवे अध्याय के शुभारंभ में अर्जुन ने कहा था-"चच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्"- "कोई एक मार्ग जो निश्चित रूप से कल्याण कारक हो- वही आप मुझे बताइये।" प्रस्तुत ४६ वाँ श्लोक उसी का उत्तर है। वे कहते हैं कि "तू ध्यान योगी बन जा"-यही तेरे लिए हितकारी होगा। पूरे श्लोक का सार यह कि सकाम भाव वाले भोगी जनों से जो तपस्या, ज्ञान और सकाम कर्मी-कर्मकाण्डों से जुड़े होते हैं- निष्काम भाव वाला ध्यान योगी श्रेष्ठ है।

राजमार्ग है ध्यान योग

जितनी भी योग पद्धतियाँ किसी एक स्थान पर मिलती हैं तो वह है ध्यान योग। राजयोग, हठयोग, नादयोग, ऋजुयोग, लययोग सभी की परिवक्तावस्था, पराकाष्ठा ध्यान में होती है। ध्यान एक समर्थ सशक्त योगोपचार पद्धति है। ध्यान का एक ही लक्ष्य है कि किस तरह व्यक्तित्व संपूर्णता से विकसित हो। ध्येय में, परमसत्ता में ध्याता विलीन हो जाय। चाहे वह परम पूज्य गुरुदेव का बताया ध्यान हो-साधक का सविता को समर्पण-विसर्जन-विलय-ध्यान प्रारंभ ही समर्पण से करता है व विलय में परिपूर्णता को प्राप्त होता है। जब विलय हो, तो ध्यान ही बचे, न ध्याता बचे, न ध्येय। यही ध्यान की सर्वोच्चावस्था है।

श्रीरामाकृष्ण परमहंस कहते थे- हमारे देश (कामारपुकुर) में बच्चे नेवले की पूँछ में कंकड़ बाँध देते थे। जब वह बिल में घुसता तो

फिर बाहर आ जाता। कंकड़ उसे अंदर ही न घुसने देता था। आदमी के जीवन में भी तरह तरह के कुसंस्कार हैं, मनोग्रंथियाँ हैं, ईर्ष्या है, द्वेष है इसी कारण उसी तरफ मन चला जाता है। यह एक प्रकार के कंकड़ हैं जो हमें हमारे अंतर्जगत में प्रवेश ही नहीं करने देते। ध्यान निष्काम कर्म से आरंभ होता है, निष्काम साधना से आराधना तक की यात्रा कराता है, तब जाकर साधक का प्रवेश अन्तर्जगत में होता है। ध्यान अंतर्जगत की यात्रा का नाम है। ध्यान वस्तुतः द्वार खटखटाने की प्रक्रिया है। ईसा ने कहा है—नाँक द डोर एण्ड डोर विल ओपन—(Knock the door and door will open)। ध्यान भी इसी तरह अंतःगुहा में प्रवेश की प्रक्रिया है।

महापुरुषों ने भी ध्यान से पाया सत्य

योगेश्वर श्रीकृष्ण इस पूरे अध्याय का समापन अर्जुन को ध्यान की महत्ता समझाकर व उसे भी ध्यान योगी बनने की प्रेरणा देकर कहते हैं कि ध्यान सूक्ष्मतम की जानकारी कराता है। स्वामी विवेकानंद दो घण्टे रोज ध्यान करते थे। वही उनकी सारी सिद्धियों का मूल था। कोई और कर्मकाण्ड नहीं, कोई अन्य विधि नहीं, मात्र ध्यान। परम पूज्य गुरुदेव ने जीवन भर रात्रि १ से प्रातः ५ तक चार घंटे ध्यान कर सारी सिद्धियाँ प्राप्त की एवं स्वयं को एक युग प्रवर्तक—क्रान्तदर्शी ऋषि—प्रज्ञावतार की सत्ता के रूप में स्थापित किया। ध्यान एक सामान्य व्यक्ति भी करना चाहे तो उसे ध्यान के शिखर पर पहुँचे व्यक्तियों, महापुरुषों के जीवन प्रसंगों को याद करना चाहिए, ऐसे वीतराग महामानवों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे कि विचारों की धूलि रोज उड़ेगी—कषाय कल्मष चढ़ेंगे, तुम्हें अपने बर्तन रोज मांजने पड़ेंगे, इसलिए ध्यान करो। ध्यान के स्वरूप व कक्षाएँ बदल सकती हैं, पर ध्यान कभी बन्द नहीं होना चाहिए। सतत चलते रहना चाहिए। विराम जरा भी न हो।

सात्विकता लाता है, देवत्व बढ़ाता है

ध्यान स्वयं में एक साधना भी है-सिद्धि भी है। साधना में हम अपने आपको देखते हैं-सिद्धि रूप में हम ब्रह्माण्डीय ऊर्जा चुम्बक की तरह एकत्र करते हैं। ध्यान की गहराई में जो भी सोचा जाता है, वह निश्चित ही फलित होता है। आत्महित की बात भी, परहित के कार्य भी। ध्यान से आसक्ति मिटती है, निरन्तर अपने विचार परिमार्जित होते रहते हैं। सुषुम्ना-चक्रों में ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। सतोगुणों की वृद्धि साधक में स्वतः दिखाई देने लगती है। साधक फिर बूंद-बूंद सात्विकता एकत्र करता है। खान-पान में परिवर्तन से, व्यवहार से, स्वाध्याय एवं सत्संग से। यही ऊर्जा ध्यान को और भी परिवर्तित बनाती है। ध्यान हमें देवत्व के प्रवाह में बहा ले जाने की प्रक्रिया है। हमारे अंदर के प्रसुप्त देवत्व को जगाकर हमें देव मानव बनाने की एक क्रिया पद्धति है।

सभी धर्म-संप्रदाय कहीं किसी एक बिन्दु पर आकर मिलते हैं तो वह है ध्यान। सिख एक गुरु सतनाम या गुरुग्रन्थ साहब के समक्ष संकीर्तन द्वारा, हिंदु अपनी आराध्य ज्योति में विलय द्वारा, मुस्लिम निराकार अल्लाह का स्मरण कर एवं सूफी प्रेमभाव द्वारा ध्यान में प्रवेश कर अपनी साधना को उच्च शिखर पर पहुँचाते हैं। ध्यान एक उच्चस्तरीय शल्य क्रिया है, जिसमें हम चेतन मन को एक उपकरण बनाकर अपने चित्त के कुसंस्कारों को लेजर किरणों द्वारा निकालते हैं। ध्यान किसी भी प्रतीक का हो सकता है, किसी भी पवित्र भाव का हो सकता है। जैसे-जैसे हमारा मन उस पवित्र भाव में विलीन होता है, शुद्धतम होता चला जाता है एवं ऊर्जावान बनता चला जाता है। यह भाव यदि ध्यान की अवधि के अलावा भी चौबीस घंटे बना रहे तो हम सतत ध्यान की स्थिति में चले जायेंगे और ढेर सारी ऋद्धि-सिद्धियों का रहस्योद्घाटन अपने जीवन में कर सकेंगे।

एक पवित्र भाव का ध्यान

ध्यान के लिए एक पवित्र भाव का ध्यान पोली बांसुरी का हो सकता है। हम यह सोचें कि हम गाँठयुक्त बाँस नहीं, पोली पोंगरी की तरह हैं। हमारा अंतस् हमारे गुरु को समर्पित है। देहमात्र हमारी है। हम सूक्ष्म-सूक्ष्मतम स्थिति में पहुँच रहे हैं। हमारे माध्यम से, इस पोली बाँसुरी से अब गुरु के, सद्गुरु के स्वर ही गुंजायमान हो रहे हैं। हम उन्हीं के अंग-अवयव बनते चले जा रहे हैं। वे ही हमारी चेतना में विराजमान हैं। हम अहं रहित होते चले जा रहे हैं। अब द्वेष, अहं, आसक्ति, तृष्णा का अंदर कोई स्थान नहीं। साक्षात् सद्गुरु ही हमारे अंदर से स्वरों को बजा रहे हैं। क्रमशः यह ध्यान करते-करते साधक समर्पण भाव द्वारा पवित्रतम बनता चला जाता है, साथ ही उसका मन ऊर्जावान बन जाता है। पतंजलि ने सही ही कहा है कि ध्यान करने वाला परमाणु से लेकर महत तत्व तक का वशीकरण कर लेता है। उन पर उसका अधिकार हो जाता है। वह आश्चर्यजनक सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है। ऐसी है ध्यानयोग की महिमा, जिसे अपनाने का संदेश योगेश्वर अपने शिष्य को दे रहे हैं।

छठे अध्याय का एक सार संक्षेप

यदि हम “आत्मसंयम योग” नामक इस छठे अध्याय के प्रथम श्लोक से अब तक की यात्रा देखें तो हमें पता चलता है एक कुशल प्रशिक्षक, शिक्षक, चिकित्सक की तरह योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने शिष्य अर्जुन की मनोग्रंथियाँ निकाली हैं एवं उसकी आध्यात्मिक मनश्चिकित्सा की है। उसे ध्यान की पद्धति सिखाई है और निष्काम कर्म से समर्पण योग की एक अति निराली दुनिया की सैर कराई है। यह भी कहा है कि यह जो हम बता रहे हैं, व्यावहारिक भी है और संभव भी। हर कोई इसे प्रयोग करके देख सकता है। वे शुरु-शुरु में ही कह देते हैं कि योगारूढ़ होने की इच्छा करने वाले को निष्काम भाव

से कर्म कर, कर्मों में आसक्ति एवं इन्द्रिय भोगों से सतत दूरी बनाए रखना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि मनुष्य चाहे तो यह कार्य स्वयं अपने आपही कर सकता है। क्योंकि उसे लड़ना वास्तव में अपने आपे से ही है। यही अंतर्जगत का महाभारत है। देवासुर संग्राम है। मन ही मित्र है एवं मन ही शत्रु है (६/५)। उसे अपने अंतःकरण की वृत्तियों को शान्त कर स्वयं को सच्चिदानन्द घन परमात्मा में स्थित करना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त, विकारमुक्त, जितेन्द्रिय व्यक्ति को फिर कोई तृष्णा-इच्छा नहीं सताती। वह सभी में समान भाव रख जीता है।

आगे वे ध्यान करने की पद्धति, आसन, वातावरण एवं साधक की मनःस्थिति की चर्चा करते हैं। यह भी कहते हैं कि यथायोग्य आहार-विहार एवं कर्मों पर सतत् दृष्टि इसके लिए जरूरी है। सही ध्यान किसका है, इस विषय में श्रीकृष्ण वायुरहित स्थान में निश्चल दीपक की लौ की उपमा देते हैं। ऐसा ही योगी का जीता हुआ चित्त होना चाहिए (६/१९)। ध्यान से बुद्धि शुद्ध होती है और परमात्मा की प्राप्ति रूपी जो आनंद मिलता है, उसके सामने बड़े से बड़ा दुख या हानि भी हल्के ही पड़ते हैं (६/२२)। धीरज पूर्वक क्रमशः उपरति को प्राप्त होने वाले चिन्तन, जिसमें परमात्मा रूपी आदर्शों के अतिरिक्त कुछ भी न हो- से ही एवं मन को बार-बार विचरण होने से विषयों की ओर जाने से बचाकर परमात्मा में निरुद्ध करने से ही ध्यान लगता है (६/२६)। ऐसे व्यक्ति परमात्मा की सतत निगरानी में बने रहते हैं, वे चारों ओर हर जीवात्मा में उस परमात्मा की ही झांकी करते हैं (६/३१)। इसी बीच अर्जुन की जिज्ञासा उठती है कि उसका भी मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, दृढ़ है। उसे रोकना अर्थात् चलती वायु के वेग को थामने जैसा दुष्कर कार्य है। कैसे उसे नियंत्रित किया जाय (६/३४)।

मन को साधने की कुंजी

श्रीभगवान् उसे कहते हैं-अभ्यास (परमात्मा के सतत चिन्तन) एवं वैराग्य (निरासक्ति से किये गये कर्म) द्वारा मन को नियंत्रित किया

जा सकता है (६/३५)। पुनः अर्जुन पूछता है कि जो संयम न बरत पाये, योग पथ पर चलते-चलते अंतकाल में विचलित में हो जाय, उसकी क्या गति होगी, तो भगवान् श्लोक क्र० ४० से ४५ तक उसे ऐसे योगभ्रष्ट साधक की आगामी जन्मों में क्या गति होगी-यह बताते हैं। आश्वस्त करते हैं कि किसी भी योगी की दुर्गति नहीं होगी। वह या तो श्रीमंतों के यहाँ जन्म लेता है या योगियों के कुल में एवं अपनी योग यात्रा को चालू रखता है। सभी सकाम कर्मों को पार कर वह संसिद्धि को प्राप्त हो, पापरहित हो परम गति को प्राप्त होता है (६/४५)। इतनी सुंदर व्याख्या श्रीगीता जी जीवन की योग के माध्यम से विकसित अवस्था की करती हैं कि कोई भी संशय मन में नहीं रह जाता। अंततः श्रीकृष्ण कह उठते हैं कि इतना जो कुछ बताया है, उसका सार यही है कि उसे ध्यान योगी बन अपने को सूक्ष्म बुद्धि संपन्न, पवित्रतम, ऊर्जावान बनाना चाहिए। इस योग को सभी तप साधनाओं (हठयोगादि), शास्त्र ज्ञान से अथवा कर्मकाण्डों से श्रेष्ठ मानकर उसे दैनंदिन जीवन का अंग बनाना चाहिए। इसी में उसका, गीता पढ़ रहे किसी भी साधक का कल्याण है। (६/४६)

समर्पण ही धुरी बने ध्यान की

अब इस अध्याय के अंतिम श्लोक में अचानक वे ध्यान योग की भक्तियोग परक व्याख्या कर एक प्रकार से उसके हाथ में कुंजी थमा देते हैं, साधना से सिद्धि की। वह कुंजी है समर्पण। भागवतसत्ता के प्रति निष्काम भाव से सब कुछ अर्पण। यह इस अध्याय की ही नहीं-अध्यात्म के इस दुरूह कहे जाने वाले पथ की भी पराकाष्ठा है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६/४७)

इस अंतिम श्लोक का शब्दार्थ है-जो (यः) श्रद्धायुक्त होकर (श्रद्धावान्) अपनी अंतरात्मा को मुझमें लगाकर (मद्गतेन अन्तरात्मा) मुझ परमेश्वर

का (मां) ध्यान करते हैं-(भजते)हैं- वह (सः) सभी (सर्वेषां) योगियों में भी (योगिनाम अपि) श्रेष्ठतम माने जाने योग्य है (युक्ततमः), [यह] मेरा (मे) मत है, (मतं) । ६/४७

भावार्थ इस प्रकार है

“तमाम योगियों में वह योगी जो श्रद्धापूर्वक अपना हृदय मुझे अर्पित कर, मुझे निरन्तर भजता है, मेरा ही ध्यान करता है, मेरी उपासना करता है, वह मुझे सर्वश्रेष्ठ मान्य है।” (६/४७)

यहाँ आकर श्रीकृष्ण बड़े स्पष्ट विचार करते नजर आ रहे हैं। उनका मत है कि बहुत से व्यक्ति योग द्वारा उनकी प्राप्ति कर सकते हैं, किन्तु उन सभी योगियों में भी सर्वश्रेष्ठ उन्हें वही मान्य है, जिसने ध्यान के माध्यम से उनका परमात्मा रूप पा लिया है, उसका दर्शन कर लिया है एवं श्रद्धा पूर्वक प्रभु के कार्यों में -उन्हें आगे बढ़ाने में लगा है। अनन्त आत्मा के रूप में परब्रह्म परमात्मा का अनुभव ज्ञानी को जिस पराकाष्ठा पर पहुँचाता है, वहाँ उसके अंदर से एक भक्त जाग उठता है, जो सर्वतोभावेन प्रभु को, उनकी इस सुंदर सृष्टि को ही समर्पित होता है। ऐसा सतोगुणी भक्त भगवान को सर्वाधिक प्रिय है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि श्रीकृष्ण क्रमशः ७ वें से १२ वें अध्याय तक “भक्तियोग” की ही व्याख्या करने वाले हैं, जिसमें वे अपनी विभूतियों की चर्चा भी करेंगे पर कर्म व ज्ञान को भी साथ लेकर चलेंगे। कर्मयोग की पराकाष्ठा वाले इस छठे अध्याय में अंतिम श्लोक में वे अचानक नहीं, क्रमशः हर गीता पढ़ने वाले साधक को समर्पण योग में लाकर छोड़ देते हैं। भगवान श्री वेदव्यास जिनने गीता को लिपिबद्ध किया है, के काव्य का यही लालित्य इस ग्रंथ को सर्वश्रेष्ठ बना देता है। कर्म में भी समर्पण, ज्ञान भी पूर्णतः श्रद्धावान बनकर एवं अंततः सभी योगों का सिरमौर ध्यानयोग एक प्रकार से लययोग-समर्पण योग का पर्याय बनकर साधक की मनःस्थिति को प्रभु की चेतना से प्रकाशित कर देता है और आलोकित कर सारे भक्तिभाव को अंदर से जगा देता है।

प्रभु समर्पित साधक: एक लोकसेवी दिव्यकर्मी

भारतीय अध्यात्म-हिंदू धर्म एक दिव्य अनुभूति के साथ साधक को दिव्य चैतन्य लोक के प्रति जाग्रत करता है एवं अर्जित ज्ञान को व्यवहार में उतारने, उपासना-साधना को आराधना की परिपक्वावस्था में पहुँचाने की बात करता है। फिर चारों ओर उसे भगवद्सत्ता के ही दर्शन होने लगते हैं। अपने को तो वह सुधारता ही है, अपना विकास करता है, सारी जगती के लिए समर्पित भाव से जीने, सब को सुधार कर युग निर्माण करने की उसकी उमंगें जाग उठती हैं। ऐसा ध्यान योगी जो कन्दराओं में नहीं, हिमालय की वादियों में नहीं, समाज के ऐसे वर्ग के बीच जहाँ उसकी जरूरत है, भक्तिभाव से कार्य करता है, तो वह परमात्मा की दृष्टि में श्रेष्ठतम बन जाता है। इस विलक्षण भावाभिव्यक्ति के साथ श्रीकृष्ण छठे अध्याय का समापन करते हैं। धन्य हैं वे जो इस अति महत्त्वपूर्ण अध्याय को जीवन में उतार पाते हैं। सेवा-साधना में स्वयं को निरत कर पाते हैं। यहीं छठा अध्याय समाप्त होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



गायत्रीतीर्थ-शांतिकुंज, हरिद्वार

(उत्तराखण्ड) 249411

Ph.No.Off.- 01334-260602, 260403, 261328 Fax-260866

www.awgp.org shantikunj@awgp.org